

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

साहित्य-चिन्तन एव समीक्षा-दृष्टि

डॉ० जगदीश शर्मा

हिंदी विभाग

जोधपुर विश्वविद्यालय

तथा

डॉ० रामानाथ शर्मा

हिंदी विभाग

राजकीय महाविद्यालय

मिरोही

किताब महल

मुख्य वितरण

- | | | | |
|---|--|---|---|
| १ | किताब महल एजेन्सीज
८४, वे० पी० कवकड गड,
इलाहाबाद-३ | २ | किताब महल डिस्ट्रीब्यूटम,
२८, नेताजी सुभाष माग, दरियागज
नई दिल्ली-२ |
| ३ | किताब महल एजेन्सीज,
अशोक राजपथ, पटना-४ | ४ | किताब महल एजेन्सीज,
मनोज बिल्डिंग सेक्टर बाजार रोड,
रामदास पेठ, नागपुर-१० |

मूल्य पच्चीस रुपये

प्रकाशक किताब महल, १५ धानहिल रोड, इलाहाबाद

मुद्रक सुभाष प्रिंटर्स, १५ नेवादा सी०एस०पी० सिंह माग, इलाहाबाद

अति अपार जे सरित बरु जी नृप सेतु कराहि ।
चढि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहि ॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड)

प्राक्कथन

ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी आलोचना का विकास आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पहले से माना जा सकता है, किंतु उसे गति शुक्लजी न ही दी। साहित्य का सम्बन्ध में उनकी अपनी एक दृष्टि थी। उनके साहित्य सम्बन्धी मतों का एक गहरे आत्मविश्वास और अपूर्व दृढ़ता से सम्पन्न है। इमीनिंग शुक्लजी के साहित्यालोचन में उनसे आग्रह दुराव रहित दिखलाई देता है, लेकिन वे आग्रह उनकी साहित्य समानोचना का सबस्व नहीं है। साहित्यानुशीलन का एक मशिलप्ट अभिगम हम शुक्लजी ने दिया है। इस अभिगम का वैशिष्ट्य यह है कि यह साहित्य का जीवन सम्बद्ध मानने का आग्रह रखता हुए भी उसकी साहित्यिक मूल्यता का प्रति समर्पित रहा है। शुक्लजी के बाद हिंदी आलोचना में एकाधिक प्रकार से जो एकांगिता पनपी उससे शुक्लजी मुक्त थे।

परवर्ती आलोचका ने अपने अपने दृष्टिकोण का समर्थन जुटाने के लिए शुक्लजी की साहित्य दृष्टि की जो व्याख्याएँ की हैं उनसे उनका मत की मशिलप्टता छिडित हुई है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके साहित्य चिन्तन और समीक्षा दृष्टि की उस मशिलप्टता को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक का अंतिम दो लेख डा० रमाकांत शर्मा द्वारा लिखे गए हैं। शेष लेख मेरे हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व अपने ऊपर लेकर किताब महल, इलाहाबाद ने हम दोनों लेखकों को चिन्तामुक्त किया, इसके लिए मैं दोनों की आभार किताब महल के स्वत्वाधिकारी श्री इन्द्रेक्ष कुमार अग्रवाल तथा उनके साहित्य-सलाहकार श्री नम-देववर चतुर्वेदी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

२८ मई, १९८५

शगदीन शर्मा

क्रम

- १ साहित्य चिन्तन का विकास
- २ गुक्लजी का सौन्दर्यशास्त्र
- ३ रस दृष्टि
- ४ आचार्य शुक्ल की साहित्यशास्त्रा
- ५ समीक्षा पथ
- ६ समीक्षा के आग्रह

१
२
३
४
६

अध्याय १

साहित्य-चिन्तन का विकास

साहित्य के मवध मे आचाय गुक्ल १९०१ ई० मे १९३९ ई० तक निरतर मोचते विचारते रहे। उनके इस मोच-विचार को उनकी अध्ययनशीलता से नये-नये आयाम भी मिलते रहे। यही कारण है कि उन्होंने जहा मे प्रस्थान किया और जहाँ वे पहुँचे, उमके बीच निरतरता बनी रहने पर भी यह लगता है कि उन्होंने एक लम्बी चिन्तन-यात्रा तय की थी। उनके आगे बढते जाने के क्रम को यदि ध्यान से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जागा कि गुक्लजी के साहित्य-चिन्तन का विकास एक निश्चित दिगा म हुआ है।

गुक्लजी के 'कविता क्या है' शीपक लेख का पहला रूप १९०९ म सरस्वती म प्रकाशित हुआ था, १९२२ म उमके आरम्भ म उन्होंने एक नया अक्ष जोडा और १९२९ म उमम बहुत परिवतन कर एक लगभग नया ही लेख तयार कर दिया। 'कविता क्या है' के इन तीनों मस्करणा की यदि तुलना की जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस दौरान काव्य क' सबध म अनक नय विचारविद्दु शुकलजी के सामने आए है जिनसे उनकी काव्य चेतना के नये आयाम उदघाटित होने के साथ ही उन अनक बलो मे भी सशोधन हुआ है जिनको उनके काव्य-चिन्तन के आरम्भिक काल म प्रमुखता मिनी थी। बाद के अनेक लखा म काव्य के विषय म भले ही ममग्रत विचार न किया गया हो, फिर भी विचार के नये मुद्दे निरतर सामने आते रहे और विचारणीय ममस्याआ म परिवतन के साथ नय मरोकारो क' समावेश न उनके अवधान का केन्द्र बदल दिया।

कविता क्या है शीपक से लिखे गए, पहले लख का स्वर उपयोगितावादी है। इस लख के पहले ही काव्य म कविता की सायकता 'मनुष्य भाव की रक्षा' म मानी गई है। यद्यपि आग चलकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य-भाव या मनुष्यता की रक्षा क' सबध म शुकलजी की परिवल्पना नितान नतिक न होकर सी दमपरक भी है, फिर भी कविता को मनुष्य भाव की रक्षा का साधन मानन स उसकी उपयोगिता की

भावना प्राप्त होती है। नविता ना विनाग की गामग्री माना ना निपेव करत हुए शुक्लजी ने इस नम म निया है कि महान कविया की रचना जा म मनारजन होगा तो चरित्र सशोधन भी अवश्य ही होगा।^१ उनकी मायता है कि "चरित्र चित्रण द्वारा जितनी मुगमता म शिक्षा ती जा सकती है, उतनी मुगमता म किमी जीर उपाय द्वारा नहीं।"^२ यह इमनिए कि 'हत्या को द्रवीभूत करने उह अपन स्वाभाविक धम पर लाने का सामथ्य काय म ही है।'^३ इस लख म शुक्लजी न कविता का टम मीमा तक एक उपयोगी वस्तु माना है नि वे उम 'ओपधि' तक क्त गए है।^४

फिर भी शुक्लजी न काव्य का प्रयागन 'मनुष्य भाव' की रक्षा मानकर मनुष्य को मवेतनायुय होने म वचान म उमकी भूमिका रेखाकित की है। मवदनाययता का जो उदाहरण शुक्लजी न इस नम म निया है, उमने स्पष्ट है कि 'मनुष्य भाव की रक्षा से उनका जागय सहृदयता की रक्षा भी है। यह उदाहरण निमी उपयाम क एक प्रसंग का है जिमम अपन पुत्र द्वारा अपनी रूपवती पत्नी को घर म निवाले जान का विरोध किया जान पर एक बनिया कहता है चल चल, भोली मूरत पर मरा जाता है। इस पर टिप्पणी करत हुए शुक्लजी न निम्ना है "जाह। किंसा अमानुषिक बर्ताव है। सामारिक वधनी म फमकर मनुष्य का हृदय इतना कठोर और कृठित हो जाता है कि उमकी चेतनता—उमका मानुष भाव—नम हो जाता है। न उस किसी का रूप मायुय देखकर उम पर उपकार करने की इच्छा हाती है, न उस किमी तीन दुगिया की पीडा देयकर करणा जाती है न उस अपमानसूचक बात मुनकर शोध जाता है। एसे लोग म यदि निमी नोभहपक अत्याचार की बात कही जाए तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, व नोत्र या घणा प्रकट करने के स्थान पर रखाई के माथ यही कहेगे, जान ती इम से क्या मतलब, चला अपना काम देखो।'^५

इस टिप्पणी म यह बात बहुत माफ हो जाती है कि अमानुषिक बर्ताव से शुक्लजी का अभिप्राय आत्मके दित हृदयहीन व्यवहार से है। इस प्रकार क व्यवहार की प्रेरक मनोवक्ति को उहोन महाभयानक मानसिक रोग की सजा दत हुए यह माना है कि कविता इमी मरज की दवा है।^६ इस उक्ति म यह निहित है कि

१ चिंतामणि भाग ३, पृ० ९३

२ वही, पृ० ९३

३ वही पृ० ९२

४ वही, पृ० ९४

५ चिंतामणि, भाग ३, पृ० ९४

६ वही, पृ० ९४

मानसिक रूप से स्वस्थ होने का अर्थ महृदय होना है। सहृदयता मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और सहृदयता में सौन्दर्यानुभूति तथा लोकसम्पत्ति दोनों अंतर्भूत हैं।

लकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि इस लेख में कविता को स्थूल रूप से उपयोगी कतई नहीं माना गया है। इस लेख में कविता को चरित्र की शिक्षा देने और काय में प्रवृत्ति बढ़ाने का साधन भी बतलाया गया है। इसके साथ ही कविता की चर्चा काव्य की प्रभाव शक्ति के स्रोत के रूप में की गई है। "भक्ति के पदाथ या व्यापार विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करने लगती है, मानो वे पदाथ या व्यापार विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान दिखायी देने लगते हैं। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों का प्रवाह जोर से बहने लगता है। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है।"^१

कल्पना का कविता की प्रभाव शक्ति का स्रोत मानते हुए भी इस लेख में गुणवत्ता की रचना सौन्दर्य की बात न करके सृष्टि सौन्दर्य का ही उल्लेख किया है और भौतिक सौन्दर्य को उपेक्षा न करते हुए भी मानसिक सौन्दर्य पर ध्यान दिया है तथा सौन्दर्य को नैतिक प्रयोजन का साधन माना है। 'सदाचार में एक अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य होता है। अतः योग को सदाचार की ओर जाकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उमका सौन्दर्य और माधुर्य दिखाकर सुभाषा जाय जिससे वे प्रियता आशा-भीक्षा मोचे मोहित होकर उमकी ओर दृष्ट न पड़ें।'^२

इस लेख में शुक्लजी ने काव्यभाषा के लाक्षणिक सौन्दर्य श्रुति मुखदता और जनकारों के विषय में भी विचार किया है, किन्तु इस तरह विचार करने काव्य के अन्तर्बर्ती घटक न होकर उमके सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्व हैं, मानो काव्य में उनकी स्थिति जानुप गिरु हो।

उमके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस लेख में काव्य पर विचार करते समय उमके प्रभाव-पक्ष को प्रमुखता दी है, रचना-पक्ष को नहीं। प्रश्न चाह मानुष भाव का हो, चाह सौन्दर्य का, चाह नैतिकता का चाह कल्पना का चाह भाषा का, चाह जनकारों का शुक्लजी का ध्यान काव्य के प्रभाव पक्ष पर प्रायः रहा है।

इस प्रकार प्रस्थान काल में शुक्लजी की दृष्टि में रचना या कवि धर्म का वसा महत्त्व नहीं रहा है, जसा उमके मानवीय प्रयोजन का।

'कविता क्या है सौन्दर्य लेख के अन्तर्गत मन्वयण (१०) में भी शुक्लजी की दृष्टि-पयोगितावादा रही है, लकिन उपयोगिता का परिचयपना पहले की तुलना में

१ चिन्तामणि, भाग ३, पृ० ९१

२ वही, पृ० ९३

सूक्ष्म हो गई है। इस सम्बन्ध में भी कविता की नया प्रवादात्मक (कवनात्मक) रूप में आरम्भ हुई है और अभी तक 'शुक्लजी' कविता को माधन मानकर ही चला है। इस बार कविता का काय 'रागात्मक सम्बन्ध' की रक्षा और निर्वाह बतलाया गया है। यहाँ आकर 'मानुष भाव' की रक्षा का आगम स्पष्ट हो गया है और मनोवगा को उत्तेजित करने जैसे उद्बोधनात्मक काय में कविता को बचाया गया है। उसके स्थान पर यहाँ शुक्लजी ने कविता द्वारा मनोवगा के परिष्कार की बात कही है 'वह (कविता) जिस प्रकार प्रेम, शोध, बरणा, घृणा आदि मनोवगा या भावा पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत के नाना रूपा और व्यापारा के माथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी उद्योग करती है।' स्पष्ट है कि यहाँ भी कविता की मोक्षदयता की धारणा बनी रही है, किन्तु उसके स्वरूप में सुधार हुआ है।

इस बीच अध्ययन के विस्तार के फलस्वरूप 'शुक्लजी' कविता का विचार एक नए परिप्रेक्ष्य में करते दिखनाई लते हैं। विकासवादी सिद्धांत में परिचय हो जाने पर वे मनुष्य के मनोजैविक विकास के प्रकाश में कविता को देखने लगे थे। इस नए परिप्रेक्ष्य में उन्हें कविता महत्त्वता की मात्रक प्रतीति हान के स्थान पर मनोजैविक विकास के फलस्वरूप आस्वाद्य जान पड़ी। अब कविता मानुष भाव की रक्षा के प्रयोजन का भी अतिशयण कर गई। जालिम मानवीय भाषा की सृष्टि के माथ प्रवृत्ति और मनुष्य के आन्तरिक ग्राह्य के संस्कारों की भी बाह्य बनकर बड़े 'शुक्लजी' के समक्ष आई।

परिवर्तित दृष्टि के अनुसार कविता 'उन मूल और आदिम वृत्तियों का व्यक्तताय है जो मजीब सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति में विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन काल में प्रकट हुई और जिनके सूत्र से नैय सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य जाति आदिवाय में करती चली आई है।' स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि में कविता अब मनुष्य के भावा की उत्तेजक और सहृदयता की साधक न रहकर तादात्म्य के अनुभव की विकासलब्ध प्रक्रिया बन गई। शुक्लजी को इस मोड़ पर प्रतीत हुआ कि कविता तादात्म्य की दिशा में प्रयोजित नहीं होनी प्रत्युत 'नैय सृष्टि के माथ तादात्म्य की आन्तरिक मनोवृत्ति से उद्भूत होने और विकास के भीतर उस संस्कार को बहन करने के फलस्वरूप काव्य की प्रक्रिया में तादात्म्य की प्रवृत्ति अनायास ही अतिनिहित होती है। कविता से असम्पत्क रहने वाला मनुष्य तादात्म्य की प्रवृत्ति से अक्षता रहकर आत्मद्वन्द्व, हृदयहीन और जड़ हो जान का खतरा मोल लेता है

१ आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबन्ध (स० सुधाकर पाठेय), पृ० ६६

२ प्रतिनिधि निबन्ध, पृ० ९१

“रागो या वेगम्बन्ध मनोवृत्तियो वा सृष्टि के साथ उचित सामञ्जस्य स्थापित करके कविता मानव जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अंतःकरण के मूल रागात्मक अंश को शेष सृष्टि से किनारे कर ले, तो फिर उसका जड़ हो जाना क्या संदेह है? यदि वह सहलहाते हुए श्रेता और जगला, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नाला, काली चट्टानों पर चाँदों की तरह ढलते हुए झरनों, मजरियों से लदी अमराइया, पटपर के बीच खड़े झाडाँवों को देखकर क्षणभर सीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पशियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया यदि लिल हुए फलों को देख वह न खिला, यदि गुदर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीन-दुखी का आतनाद सुन न पसीजा, यदि आशयो और अबलाया पर अत्याचार होना देख शोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में रह क्या गया? १

इस लक्ष में शेष सृष्टि के साथ जिसे रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है, वह 'मानुष भाव' में आगे की चीज है क्योंकि इसमें प्रकृति वृत्त के साक्षात्कार से उत्पन्न आनन्द भी सम्मिलित है। यह रागात्मक सम्बन्ध कविता का उद्दिष्ट न होकर उसका प्रवृत्त धर्म है। इस रूप में कविता का उपयोग यही रह जाता है कि वह सहृदयता को माधती है।

'कविता क्या है' के इस संस्करण में १९०९ वाला संस्करण के समान ही एक उपशीर्षक 'काय में प्रवृत्ति' दिया गया है। इस उपशीर्षक के अधीन १९०९ के संस्करण की सामग्री तो रखी ही गई है, आरम्भ में कुछ नये वाक्य भी जोड़े गये हैं जिनमें काय की प्रवृत्ति बढ़ाने में कविता की भूमिका की व्याख्या सौंदर्यानुभूति और आत्मप्रसार के सम्बन्ध से की गई है। "कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है, हम सृष्टि से वय का देखकर मुग्ध होने लगते हैं हम जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर ससार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणा से काय में प्रवृत्ति बढ़ जाती है।" २

शुबलजी ने इस लेख में 'रागात्मक सम्बन्ध' का विचार 'रस' के रूप में भी दिया है। ऐसा करते समय उन्होंने 'रस' की अवधारणा को नवरस की रुढ़िबद्ध परि-कल्पना की सकीर्णता से मुक्त करने की साहसिक प्रकृति प्रकट की है। प्रकृति वृत्त के सौंदर्य

१ प्रतिनिधि निबंध, पृ० ६५-६६

२ वही, पृ० ६७

के लिए नवरस की परिमिति में अवकाश न होत हुए भी शुक्लजी न उमम रस मानने का आग्रह किया है। उनका कहना है कि हिंदी वाला न "रस की नौ नातियों के भीतर ऐसे शुद्ध ध्वनि के लिए कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मक वाक्यम' में असतोप प्रसट किया है। पर असतोप नाली बनाने वाला के प्रति हाना चाहिए था, रस के सिद्धान्त के प्रति नहीं। प्राकृतिक दश्या के ध्वनि में एक प्रकार का रस अवश्य है चाहे उस अविचनीय कहीए, चाहे उसका कान नाम रलिए, चाहे उस किमी रस के भीतर कीजिए।^१ लगता है कि शुक्लजी सौ-दर्यानुभूति को 'रस का गम देन का आग्रह कर रहे हैं जिसके मूल में शप सष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निबाह की भावना निहित है।^२

कविता क्या है' के तीसरे संस्करण में शुक्लजी का काव्य चिन्तन अधिक सश्लिष्ट रूप में सामने आया। अब तक शुक्लजी ने काव्य की पहचान सहृदयता के सम्बन्ध से की थी, किन्तु सहृदयता की अभिव्यक्ति जितनी काव्य के प्रसंग में होती है, उससे अधिक उसका बाहर होती है। यहाँ तक पहुँचकर शुक्लजी का लगा कि काव्य में सहृदयता विशेषित होनी चाहिए। इसलिए इस लक्ष में उन्होंने काव्य के सम्पक में व्यक्त सहृदयता को रस दशा' कहकर उसे पारिभाषिक रूप दिया। अब 'मानुष भाव और 'रागात्मक सम्बन्ध' न हृदय की मुक्तावस्था का रूप ले लिया। इस मोड़ पर शुक्लजी ने इस अवस्था को व्यक्तिबद्धता से मुक्ति ही नहीं कहा, उस अद्वैतवाद की भूमि पर भी प्रतिष्ठित किया सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परममत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम-भाव के अंतर्भूत है। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय इस सत्त्वं रस के प्रभाव से पहुँचता है।^३ काव्य में सहृदय को शब्द विधान ही इस भूमि तक ले जाता है, यह बात उन्होंने पहली बार जब अनुभव की। इसलिए इस बार शुक्लजी ने व्यक्तिबद्धता से मुक्ति की माधना के साथ उसमें शब्द विधान की भूमिका का उल्लेख भी किया 'हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उस कविता कहते हैं।'^४ कविता की इस परिभाषा में आस्वाद पथ (रस दशा या हृदय की मुक्तावस्था) के साथ उसके सजन पथ (शब्द विधान) का भी समावेश है।

काव्य का प्रयोजन व्यक्तिबद्धता से मुक्ति मानने के बावजूद इस मोड़ पर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण एकांत आध्यात्मिक नहीं रहा है। काव्य द्वारा अद्वैतवादी भूमि पर पहुँचाये जाने की बात कहने के साथ ही उन्होंने व्यक्तिबद्धता से मुक्ति के

१ प्रतिनिधि निबंध पृ० ६७

२ वही, पृ० ६५

३ चिन्तामणि, पहला भाग पृ० १५१

४ वही, पृ० १४१

लौकिक अभिप्राय की भी चर्चा की है। उनकी मायना है कि कविता "मनुष्य के हृदय को स्वाथ सम्बन्ध के मनुष्य मंडन में ऊपर उठाने के लोके सामान्य को भूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँच हुए मनुष्य को कुछ बाल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है।^१

गुबलजी की दृष्टि में 'हृदय की मुक्तावस्था का अर्थ 'हृदय का प्रसार' है। यह अवस्था नदतिक होने के साथ ही नैतिक भी है। उन्होंने इसका सम्बन्ध भी हृदय की व्यापक अनुभूति में मानने हुए उसे मनुष्यता की उच्च भूमि कहा है। इस सम्प्रदाय में उन्होंने लिखा है 'बदर को शायद अंदरिया के मुह में ही सौंदर्य दिखाई पड़ता होगा, पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल पत्ते और रत्न-पत्थर में भी सौन्दर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय प्रसार का स्मारक स्तम्भ काष्ठ है जिमली उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रस-मग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर काम हमें असह्य लगने लगता है।^२ यह अवस्था शुक्लजी की दृष्टि में, कोई असाधारण अवस्था न होकर हृदय की प्रकृत दशा है। इसी नाते उन्होंने उस मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर पहुँचने का साधन माना है "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।"^३ गुबलजी ने रस दशा का अद्वैत भूमि पर पहुँचाने वाली मानते हुए भी 'अद्वैत को भावयाग कहकर लौकिक अभिप्राय में परिणत कर दिया है "भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँच हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है उसकी अलग भाव मत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।"^४ इस लक्ष में गुबलजी ने मनुष्यत्व की व्यापक अनुभूति का यद्यपि अद्वैत की अनुभूति के सम्बन्ध में भी दशा है, फिर भी विकास सिद्धांत से प्राप्त साहचर्य के पुरातन संस्कार की धारणा छोड़ी नहीं है।

१९०२ में शुक्लजी ने जादिम संस्कार की चर्चा सवदनशीलता या रागात्मक सम्बन्ध की दृष्टि में की थी, १९२९ में उनका यह मत अधिक विकसित रूप में सामने आया। १९०० में काव्यगत प्रकृति ध्वनि में उद्बुद्ध मौदयानुभूति को उन्होंने 'रस' के अंतर्गत रखने का आग्रह किया था १९२० में उन्होंने उसे 'साहचर्य-मभूत रस' कहा

१ चिंतामणि पहला भाग, पृ० १८१

२ वही, पृ० १४९-६०

३ वही, पृ० १६०

४ वही, पृ० १६० ६१

५ वही, पृ० १५०

और इम साहचर्य में भावा और रूपों की अतनिबद्धता के श्रोन की खोज की "जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामान पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारा भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं।"^१ शुक्लजी ने अनेक स्थलों पर रमानुभूति के लिए 'भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना' आवश्यक माना है। उनका कहना है कि 'जब तक भावा से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूल और गोचर रूप न मिलें, तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा।'^२

रमानुभूति के लिए काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा करन और उसके लिए मूल और गोचर रूपों को उपलब्ध करन की बात कहकर शुक्लजी ने काव्यास्वाद का सजन पक्ष से सम्बद्ध कर दिया है। पहले क 'कविता क्या है शीपक' लेखों में जहाँ काव्य चर्चा के बाद में सहृदयता निष्पन्न आस्वाद हा था, वहाँ १९२९ के इसी शीपक के लेख में आस्वाद की काव्य वस्तु पर निभरता और काव्य वस्तु की सजन साफगता पहली बार तीनों पक्षों के परस्पर गुथाव के साथ सामन आइ। इस सश्लिष्ट विचार प्रक्रिया के फलस्वरूप उहोन इस लेख में यह स्वीकार किया कि "उक्ति ही काव्य होती है,"^३ यद्यपि यह मान लेन के बावजूद उक्ति की विलक्षणता को के काव्य मूल्य मानन के विरुद्ध रह। उस उहोन 'उक्ति-चमत्कार' कहकर निम्नतर श्रेणी की वस्तु माना। सहृदय का आत्म प्रसार ही उनकी दृष्टि में अत तक काव्य का प्रयोजन रहा। उक्ति की साधकता उहोन इसी में मानी "हृदय पर जो प्रभाव पडता है, उसके मम का जो स्पश होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकातर हो—एसी हो जा मुनन में नहीं आया करती या जिममें बड़ी दूर की गूँझ होती है। एसी उक्ति जिसे सुनत ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जस प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वण विनयम या पद प्रयोग की विनयता, दूर की गूँझ, कवि की चातुरी या विगुणता इत्यादि का विचार करन लग, वह काव्य नहीं मूर्ति है।"^४

कविता क्या है के पहले दो संस्करणों में 'कल्पना' की जगह काव्य की प्रभाव शक्ति के साधन के रूप में की गई थी। तीसरे संस्करण में उमका विचार पहली बार

१ चिंतामणि, पहला भाग, पृ० १४२

२ वही, पृ० १४५

३ वही, पृ० १३८

४ वही, पृ० १३१

राजन के कोण में किया गया है "कवि म विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर साहक।"^१ शुक्लजी की महद्दयता-केन्द्रित काव्य दृष्टि में विधायक कल्पना रस-संचार का साधन ही बनकर रही, उसका अर्थात् अर्थवत्त्व उन्होंने स्वीकार नहीं किया "किसी प्रसंग के अंतगत कर्मा ही विभिन्न मूर्तिविधान हो, पर यदि उसमें उपयुक्त भाव संचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अन्तगत न होगा।"^२

कविता की भाषा पर विचार करते समय वे अधिष्ठ वस्तुन्मुख अवश्य दिखलाई देने हैं। अथवा उन्होंने जहाँ बिम्ब ग्रहण की ही बात कही है, वहाँ भाषा के प्रसंग में बिम्ब विधान या मूर्ति-विधान की बात भी उन्होंने कही है "मूर्ति विधान के लिए वह (कविता) भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लेती है।" फिर भी भाषा की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है जैसे वह काव्य वस्तु का अविच्छेद्य अंग न हाकर उससे जुड़ी हुई वस्तु ही। शुक्लजी की काव्य-दृष्टि में जो अद्वैतवाद अंतर्भूत था, उसमें वह द्वैत छाप नहीं सकता था जिसमें आस्वादक अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखकर काव्य-वस्तु का सौंदर्य—उसके रचना-विधान—का अवलोकन और आकलन कर सके। यही कारण है कि काव्य वस्तु की विनियोगिता का महत्त्व उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था "वेदल अमाधारणता की रूचि सच्ची महद्दयता की पहचान नहीं।"^३

फिर भी 'कविता क्या है' के तोमर संस्करण में शुक्लजी काव्य मौ-दय के सम्बन्ध में पहले की अपेक्षा अधिक उदार दिखलाई देने हैं। इस लेख में उन्होंने 'रमणीयता' का काव्य मूल्य के रूप में स्वीकार किया है (इसलिए भी कि रमणीयता में तादात्म्यपरक सौंदर्यानुभूति के लिए जबकाश या) और काव्य को कला मानते हुए संगीत और चित्रकला से उसका सम्बन्ध स्वीकार किया है "काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्तिविधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिए वह संगीत का सहारा लेती है। इससे साथ ही शुक्लजी ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि काव्य में वचन प्रणालियाँ के सौन्दर्य की सम्भावनाएँ अनंत हैं। अनादि काल से अब तक उमके असंख्य रूप हमारे सामने आए हैं और आगे भी आते रहेंगे फिर भी उममें नित्य नूतनता के लिए अवकाश रहेगा। इसीलिए शुक्लजी ने अलंकार की गिनती करना अनुचित माना है "कौन कह सकता है कि काव्या में जितने रमणीय रस हैं अब ढूँढ निकाल गए हैं वचन की जितनी सुंदर प्रणालियाँ हो सकती हैं, अब निरूपित हो गईं, आदि काव्य

१ चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १६१

२ वही, पृ० १६२

३ वही, पृ० १६३

रामायण में लखर इधर तब व वाक्य म न जाा चिन्तनी विभिन्न प्रणालियाँ भरी पनी है जा न निदिष्ट की गई ह, न जिनके कुछ नाम रखे गए है ।^१

गुबनजी का मत बहुत स्पष्ट है। वणन प्रणालियाँ न मौद्रय की जात सम्भावनाओं की बात करते हुए भी वे काय व मौद्रय को उणन प्रणालियाँ—जिहू के जलवारा न पयाय मानते है—न मौद्रय म निहित मानन व निए तयार नहीं है। लकिन यह बात अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। अधिक महत्व इस बात का है कि कविता क्या है व तीसर और अंतिम मस्करण तक पहुँच कर गुबनजी न वाक्य स सम्प्रथित मुद्दा पर ही ध्यान केंद्रित किया है। इसम पहल तक उनकी काव्य चर्चा जहाँ काव्य को जीवितानुपगा व मध्य रखकर उमक आम पाम की समस्याओं पर मँडराती रहती थी वहाँ कविता क्या है शीपक स लिखे गए अंतिम लप म मानो कविता का 'कलाज अप प्रस्तुत किया गया है जिसम कविता का स्वरूप विस्तार व साथ उपनब्ध है, जबकि जानुपगिव मुद्दे विचार क्षेत्र व बाहर चल गए ह।

साहित्य चिन्तन क अंतिम चरण म गुबनजी व अवधान का केंद्र काव्य वस्तु बन गया। पहले शुक्लजी जहाँ लोक व मन्म म काव्य का त्रिवार करते थ, अत्र वहाँ व काव्य म अवतीण लोक की चचा करन लग। उहान यह मान लिया कि 'कविता अभिव्यजना है, वह अभिव्यक्ति या विकास को लकर चलती है।' यह दष्टि उम दष्टि स स्पष्टतया भिन्न है जो काव्य को सवदनशीलता के उदबोधन या रम व नान ही महत्व देती थी। काय को अभिव्यजना या विताम के रूप म लन का फनिताथ यह है कि काय की सत्ता उनके गरीर म है भले ही उमर प्राण उमकी रमवता म निहित हा।

इस चरण म पहुँचान पर शुक्लजी व साहित्य चिन्तन म कल्पना का विचार अपथाकत अधिक प्रखरता पा गया। हिंदी साहित्य सम्मेलन व चौबीसव अधिवसन क अन्त्य-पद म दिय गये भाषण म शुक्लजी न भाषा के चार प्रकार क अर्थों—प्रत्यय, अनुमित आप्तापनत्र और कल्पित की चचा करने हुए कहा कि "कल्पित अथ का प्रधान क्षेत्र का य है।"^२ यह मानत हुए भी कि "काय को हम जावन स जलग नहा कर सकत"^३, उहाने काय म जीवन की अवतारणा म कवि की कल्पना की भूमिका रखाकित की है "बुद्धि अपनी सूक्ष्म त्रिया द्वारा, विशेष मनन और चिन्तन द्वारा उमका (जगत का) निरूपण करती है और कवि की प्रतिमा या कल्पना द्वारा उसे मोचर और मार्मिक रूप मे सामने रखती है।"^४

१ चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८/

२ वही भाग २ पृ० १२७

३ वही, पृ० १५७

४ वही, पृ० १५७

लोक और काव्य के बीच कवि पर दृष्टि पड़ने पर शुकनजी न काव्य में लोक व भावों को भी अब कवि के भाव की दृष्टि में देगा। इसका फलस्वरूप अब शुकनजी व काव्य चिन्ता में बीजभाव की अवधारणा न जन्म लिया और उन्होंने काव्य-विधान का भेदकर उसका मूल में निहित बीजभाव के सम्बन्ध से भी रस व सम्बन्ध में विचार किया। उन्होंने लक्ष्य किया कि काव्यास्वाद की प्रक्रिया में कई बार हमारा तादात्म्य पात्र विशेष में नहीं होता, हम उसका हीन वैचित्र्य से ही प्रभावित होते हैं। काव्यास्वाद की इस कोटि को भी उन्होंने 'रस का अन्तर्गत रस और उसका सम्बन्ध भी तादात्म्य तथा साधारणीकरण से माना। इस प्रकार की रसात्मकता को मध्यम कोटि की मानते हुए उन्होंने लिखा "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य कवि के उस भाव व साथ होना है जिसका अनुरूप वह पात्र का स्वरूप मघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है, वह उसकी किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि का जिस भाव का आलम्बन रहता है पाठक या श्रोता के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः होता है।" स्पष्ट है कि जब शुकनजी के लिए काव्य का रूप में कवि की सृष्टि विचारणीय बन गई यद्यपि इस नात कल्पना की नूतन और विलक्षण सृष्टि का महत्त्व उन्होंने अतः तब स्वीकार नहीं किया।

फिर भी इतना तो हुआ कि उन्होंने काव्य पर कवि के सम्बन्ध में विचार करना आरम्भ किया। ऐसा होने में उन्होंने काव्य की चर्चा अनेक बार कला के रूप में की है। इसमें सदेह नहीं कि अनेक बार उन्होंने काव्य को 'कला मानने का विरोध भी किया है, लेकिन इस विरोध का लक्ष्य या तो इस शब्द का कलावादी अर्थ में प्रयोग रहा है या चारीगरी के अर्थ में प्रयोग अथवा काममूल्य का वह दृष्टिकोण जिसके अनुसार कला भोग-विलास की वस्तु है। भाषिक मजना के रूप में शुकनजी न काव्य को कला माना है और अनेक बार 'काव्य कला शब्द का प्रयोग उन्होंने किया है।^१ उन्होंने डटने व उस वर्गीकरण का भी विरोध किया है जिसके अनुसार एक प्रकार का काव्य 'शक्ति काव्य है और दूसरे प्रकार का 'कला काव्य'। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा है "डटने न शक्ति-काव्य से भिन्न जो कला-काव्य (Poetry as an art) कहा है, वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। माधनावस्था या प्रयत्न पथ का लेकर चलने वाला काव्या में भी यदि कला में झूक हुई, तो लोकगति का परिवर्तित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा।"^२

१ प्रतिनिधि निबंध, पृ० १२०

२ वही, पृ० १०६

३ वही, पृ० १०३

जैसा कि उनकी चिंतन प्रणाली से स्पष्ट है, शुक्लजी की दृष्टि में काव्य का अधिक गम्भीर श्रेणी का प्रभाव भाव-जगत से संचित था। इसलिए उन्होंने भावमौदय की चर्चा ही भरकर की है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अंतिम चरण के लेखन में शुक्लजी की रचि लोकमगल और सौंदर्य के समीकरण में व्यक्त हुई है। काव्य में लोकमगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था, दोनों में आनंद कला की अभिव्यक्ति मानते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य में लोकमगल की प्रतिष्ठा "धर्मशासक की हैमियत से डराने के लिए नहीं" ^१ "कला की दृष्टि में मौदय का प्रभाव जानने के लिए होती है। इसी आधार पर शुक्लजी ने रूपमौदय और कममौदय के अंतर्सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए लिखा है "जाज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुंदरता कुम्भकण को और कुम्भकण की कुरूपता राम को देने में बनगी।"^२

अंतिम चरण में पहुँचकर शुक्लजी ने 'सौंदर्य' के स्वरूप की व्याख्या में रचि लत हुए लक्षणा के बल पर उन्होंने उसका व्यापक अर्थ दिया है। सौंदर्य को मूलतः 'दशान वृत्ति की रागात्मक दशा बहकर 'कम सौंदर्य', 'नाद सौंदर्य आदि में उन्होंने लक्षणा से इस शब्द का अर्थ विस्तार की व्याख्या की है। यह करते हुए उन्होंने प्रयत्न तथा उपयोग पक्षों में 'सौंदर्य' के स्थिर और गतिशील भेद किये हैं। कला से सौंदर्य के संबंध पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है 'रूप और गति दोनों दृष्टि के विषय हैं। अंतः दशान वृत्ति को तुष्ट करने वाले दो प्रकार के विषय ठहरते हैं, रूप और गति। प्रयत्न पक्ष में गति की स्थिरता का वर्णन साधनावस्था के अंतर्गत आ चुका है। उपभाग पक्ष में गति की स्थिरता हम नृत्यकला आदि में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार दशान और श्रवण दोनों के उपभोग पक्षों को लेकर कई कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ— दशान की तुष्टि के लिए चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्यकला का श्रवण की तुष्टि के लिए संगीत का। ^३ इसके साथ ही उन्होंने यह चेतावनी भी दी है कि "यह न समझना चाहिए कि उपभाग पक्ष की तुष्टि ही काव्य का एकांत लक्ष्य है। रसात्मक तुष्टि का क्षेत्र उपयोग वृत्ति के और जाग तक है।"^४

कला के साथ काव्य के संबंध को लेकर शुक्लजी ने निम्न प्रकार कई बार अप्रमत्तता प्रकट की है, उन्नी प्रकार सौंदर्य के साथ काव्य के संबंध को लेकर भी वे कई

१ प्रतिनिधि निबंध, पृ० १०८

२ वही, पृ० १०६

३ वही, पृ० ११०

४ वही पृ० ११०-११

स्थानों पर नाराज दिखलाई देते हैं, लेकिन एमा प्रायः वहाँ हुआ है जहाँ उन्हें सौंदर्य सजावट का स्थानापन्न जान पड़ा है। उदाहरण के लिए, जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य के धर्म को कोठार और रसोईघर के विपरीत टाइम्स का धर्म कहा, तो शुक्लजी ने उनके मतों को 'सजावट की रक्ति' कहकर जस्वीकार कर दिया।

शुक्लजी के साहित्य-चिंतन के अंतिम चरण की एक देन यह है कि उन्होंने वाक्य में रम की स्थितियों को रूप रचना के साथ जोड़ कर रखा। रम मिद्धांत के इतिहास में गायद पहली बार शुक्लजी ने रम और रूप के संबंध को सामने रखकर रस के विधान में कल्पना की भूमिका को समझा "समार भागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निमाण और इसी की रूप गति से उसके भीतर विविध भावों या मनो विकारों का विधान हुआ है। पाश्चात्य साहित्य चर्चा में कल्पना को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने में स्पष्ट होते हुए भी शुक्लजी ने इतना अवश्य माना कि "वाक्य वस्तु का गारा रूप विधान कल्पना की क्रिया से होता है।"^१

वस्तुतः शुक्लजी का रूप कल्पना को जीवन से विच्छिन्न और कल्पना-सृष्टि को जीवन निरपेक्ष मानने के प्रति था। वाक्य में जो कल्पित रूप विधान दखने में आता है, उस शुक्लजी जीवन से प्राप्त या प्रत्यक्ष रूप विधान पर निर्भर मानते थे 'प्रत्यक्ष रूप विधान के उपादान से ही कल्पित रूप विधान होता है।'^२ प्रत्यक्ष रूप विधान से स्वतंत्र कल्पना की अपनी सृष्टि की विवक्षणता की आशंका के पक्ष में वे अतन्त्र नहीं बोलते। नूतन सृष्टि के निर्माण में मिद्धांत का उन्होंने मद्दा उपहास किया। वाक्यगत रूप विधान का प्रत्यक्ष रूप विधान का अनुवर्ती मानने में शुक्लजी मही थे या गनत, इस प्रश्न में अश्वक महत्त्वपूर्ण यह है कि अपनी साहित्य चिन्ता के अंतिम चरण में रूप के प्रश्न का सामना करते हुए उन्होंने अपना पक्ष दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत किया है।

मही बात यह है कि शुक्लजी ने अपने साहित्य चिंतन के अंतिम चरण में कलावाद की चुनौती का सामना किया था और इस स्थिति में वे कई बार वर्चन हो उठे थे। कलावाद के प्रवक्ताओं में उनके सामने शोबे और रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। नूतन सृष्टि के निर्माण की विवक्षणता और उपयोग निरपेक्ष सौंदर्य की माधना मवधी दृष्टिकोण में वे आहत हुए थे। इस दृष्टिकोण के विरोध में उन्होंने माधारीकरण और सजनात्मक कल्पना की जीवनो-मुखता का प्रतिपादन किया था। 'रमारमक बोध के विविध रूप इसी प्रकार की चिन्ता का परिणाम है।

१ चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २६४

२ प्रतिनिधि निबंध, पृ० १०१

फिर भी इतना निश्चित है कि गुकलजी के मन में साहित्य का वशिष्टय नैतिक गति में स्पष्ट होता गया। 'मानुष-भाव', 'रागात्मक सम्बन्ध और 'हृदय की मुक्तावस्था' की चर्चा धीरे धीरे साहित्य में अपने मुद्दा की ओर मुड़ चली। काव्य को शब्द विधान और उक्ति' के रूप में ची-हूँ के साथ उनके साहित्य चिंतन का नया युग आरम्भ हुआ जिसमें रम और 'सौंदर्य को प्रभूत महत्व मिला। काव्य को 'कला' मानने की ओर भी गुकलजी का दृष्टान्त बढ़ चला—यद्यपि कलावाद को उन्होंने अत तक स्वीकार नहीं किया और इसी कारण वे काव्य को कला मानने का विरोध भी बीच बीच में करते रहे। 'भाव की महिमा के आरम्भ से मानते जाएँ, लेकिन आगे चलकर उन्होंने उसका मान रूप और कल्पना के सम्बन्ध की भी व्याख्या की और लोकमन की धारणा को भाव सौंदर्य और कम सौंदर्य में समीकृत कर साहित्य की जीवन्तो-मुखता और जीवनपरायणता के भीतर उसकी कलात्मकता की प्रतिष्ठा की। गुकलजी के प्रस्थान-समय को दृष्टि में रखते हुए उनके काव्य चिंतन की अंतिम स्थिति पर विचार किया जाना पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों चरणों के समय में उन्होंने एक लम्बी यात्रा तय की थी।

शुक्लजी का सौन्दर्यशास्त्र

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सौन्दर्यशास्त्र की बात करना पहली दृष्टि में असंगत प्रतीत हो सकता है। यही नहीं कि वे काव्य की उपयोगिता और उसके नैतिक पक्ष के प्रबन्ध समर्थक थे, काव्य की सैद्धांतिक चर्चा करते समय उन्होंने सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण, कला और कलावाद पर प्रहार भी किया है। चिन्तामणि पहला भाग में समर्पित लेख 'कविता क्या है' में सौन्दर्यवादी काव्य दृष्टि को उड़ात हुए उद्घाटन किया है "भारतीय कला समीक्षा में यह (सौन्दर्य) एक बड़ी ऊँची उड़ान या दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गडबडयान के सिवा और कुछ नहीं।" सौन्दर्यशास्त्र काय तो कलाशास्त्र में एक मानत हुए उमक मजनात्मक उत्कृष्ट को विचार के क्षेत्र में रखता है। आचार्य शुक्ल ने 'रमात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक लेख में काव्य चर्चा में अंततः 'कला' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है 'कला शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ मजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन बहाना। यह कला शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी भा हो रहा है। इसमें न जान कब पीछा छोटेगा।" इतना ही नहीं, 'श्रद्धा भक्ति' शीर्षक निबंध में उद्घाटन विभिन्न कलाओं की अभ्यासजन्य सूक्ष्मता का उपहास किया है। स्वापत्य के क्षेत्र में वारीक वारीगरी को लेकर उद्घाटन किया है "समय की बात है कि इमारत हाथ पर रखकर देखन की चीज नहीं है, हम पांच हाथ दूर पर खड़े होकर देखन की चीज है।" चित्रकला की वारीक की खिलनी उद्घाटन के लिए उन्होंने राधा कृष्ण के सूक्ष्मतापूर्ण चित्र का एक कल्पित उदाहरण सामने रखकर किया है "देखने घान को यह नहीं जान पड़ता कि यह कुछ दूर खड़ा होकर बदन और राधा कृष्ण को एकसाथ देख रहा है, वह यह जान पड़ता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने में निगम वट पेड़ पर चला - और कभी नदना - के लिए चुनरी हाथ में लेता है। मगीत का उल्लेख उन्होंने और भी उपहासपूर्ण स्वर में किया है 'मगीत का पंच पात्र दण्डार भी दृष्टयोग याद जाता है। जिस समय कोई कोई कलावत पवना गाना गाते हैं तब अठ अंगुल मुह फलाता है और ७१ ७१ ७१ दिखल होता है, हम समय बड़े बड़े धीरा का धय फूट जाता है—दिन दिन भर पचाप बट रहने वाले बड़े बड़े जानसियो आसन डिंग जाता है।

सुबलजी को य टिप्पणियाँ बिनादपूर्ण ज्ञान रूप भी बहुत तीव्र हैं। कना प्रेमिया को धर्य करत क नित ध पयान हैं। फिर भी इगमे य प्रनट नहीं होना कि आचार्य सुबल को कना सौन्दर्य म र्चि नहीं थी, या क उमका सम्मान नहीं करत थे। उनकी इन उक्तियो के आधार पर यह भी नहीं कना जा मरता कि के काय्य म कलात्मकता के विरोधी थ, या काय्य का सौन्दर्य म सम्बन्ध नहा मानत थ। उनके इन गद्यो के इनना ही प्रनट होना है कि क कारीगरी और कना म अन्तर करत थे और काय्य को अय कनाआ क सम्मान निरी रूप ममृद्धि की तुना पर तोनना पमद नहीं करत थे। पश्चिम के सौन्दर्य चिन्तन म कना की स्वायत्तता विपयक धारणा को सामन पाकर ये धुब्ध हुए थ। इम सत्रध म कला की जीवन निरपेक्षा का मिद्धात उह कनई पसन् नहीं था।

चित्तमणि पहला भाग म मगहीत कविता क्या है? लेख म सुबलजी न स्पष्ट दाना म सौन्दर्य क साथ कवि कय के सम्बन्ध पर प्रकाश डाना है। उनका कहना है कि "कवि की दष्टि तो सौन्दर्य की आर जानी ही है, तह वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप रग म अथवा मनुष्या के मन कचन और कय म। उदाय माधन क निए, प्रभाव की वृद्धि के निए कवि नोग कई प्रकार क सौन्दर्यों का मन विमा करत हैं। 'काव्य म लोकमगल और माधुय शीपक लख म भी इम प्रकार की मायता के दान होत है

कयि सौन्दर्य स प्रभावित रहता है और दूसरा को प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा म उसकी कल्पना मे कई प्रकार क सौन्दर्य का जो मन आपगे आप हो जाया करता है उमे पाठक के सामने भी वह प्राय रख देता है ।' सुबलजी न काय्य क विधानगत सौन्दर्य की चर्चा भी की है। मुधाकर पाडेय द्वारा सम्पादित आचाय सुबल प्रतिनिधि निबन्ध म सम्मिलित 'कविता क्या है' शीपक लख म उहान काव्य सौन्दर्य क नो पना—भाव सौन्दर्य और नाद सौन्दर्य—का उल्लेख विमा है।

लगता यह ह कि सुबलजी न काय्य मे सौन्दर्य के सम्बन्ध को अमाय न कर कना और सौन्दर्य के साथ काय्य के उम सम्बन्ध निरूपण का विरोध किया है जो उह पश्चिम म और वहाँ क प्रभावस्वरूप रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि की साहित्य दष्टि म लोकमगल की उपेक्षा करता प्रतीत हुआ था। काव्यास्वाद को सौन्दर्यानुभूति मानन म उह यह खटका हुआ कि काय्य उपभोग्य बनकर रह जा सकता है। इस खतरे से सावधान करत हुए उ होत काय्य म लोकमगल और माधुय शीपक लख म लिखा

यह न समझना चाहिए कि उपभोग पक्ष की तुष्टि ही काय्य का एकांत लक्ष्य है। रसात्मक तुष्टि का क्षेत्र उपभाग वृत्ति से और आगे जाता है। दूसरी बात यह है कि तालस्ताय जिह कलावादी मानत थ, काय्य म प्रेम के ही सौन्दर्य के कायल थे। सुबलजी इस प्रकार की भाव सौन्दर्य परिमिति के विरुद्ध थे। उहान सधय की

भीषणता म भी सौन्दर्य की मत्ता मानी ह। इमी नान अग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेरी की प्रशंसा करत हुए "न्हानि निगा है" "शेरी न भी का-पन्त वा ता मून तत्व प्रेम भाव ही माना था, पर अपन ती मुग मौ-श्यमय मायुय भाव ता ही बद्ध न रखकर प्रवच-क्षेत्र मे भी अच्छी तरह घुमकर भाषो की अनेकरूपता का विचाम किया था। स्थिर (Static) सौन्दर्य और गयात्मक सौन्दर्य, उपभोग पत जीर प्रयत्न पत, दोनों उनमें पाये जात हैं।"

लेकिन सौन्दर्य सृष्टि के नाम पर अद्भुत, अपूर्व, अद्वितीय, विचित्र और विरूपण की रचना उह साधारणीकरण म बाधक प्रतीत होती थी, इसलिए उहोने एसी रचनाओं का विरोध किया है। पश्चिमी सौ-दर्य चिंतका की दृष्टि म 'असामान्य' की प्रतिष्ठा का विरोध करते हुए उहोने विचार प्रकट किया है कि "असामान्यता या चमत्कार के रचि वाल कवि बाह्य प्रकृति का चित्रण उमकी असाधारण विभूति को— उमकी चमक-दमक, मजाबट, वैचि-य, अनोखेपन इत्यादि को ही—लेकर चलते है। इमी रचि को बहुत से लोग कला रचि मानत है। उनके मत से जगत् के साधारण और अरचिकर के बीच से असाधारण और रचि को छांट-छांट कर मजाना ही और कलाओं क समान ही वाच्य-कला का भी काम है। \times \times काव्य का यह असामान्यता बाद धीरे धीरे उम लोकोत्तरवाद तक पहुँचा जिमका प्रतिपादन काव्य को आध्यात्मिक क्षेत्र म ल जान के लिए किया गया। \times \times विभाव पदा म शोभन और दीप्त को चुनकर उनही असामान्य योजना द्वारा अद्भुत रजन की सामग्री तैयार करना काव्य म कलावाद के नए और पुरान अनुयायियों का लक्ष्य रहा है।"

सौ-दर्यमूलक काव्य दृष्टि की परिणति अतत रचना की स्वायत्तता की प्रतिष्ठा म होनी है जो गुबलजी को स्वीकार्य नहीं थी। इमे उहोने 'नूतन निमाण वाली कल्पना कटकर इमका प्रतिवाद किया है। इमे लेकर के डटन के विरुद्ध उठ खडे हुए है "एमी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा म किसी की नहीं हो सकती, केवन ऊपरी मन वहनाव के लिए खडा किया हुआ कृत्रिम तमासा ही होगा। पर डटन माहत्र क अनुमार एमी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना ता सबसे बडा उज्ज्वल उदाहरण होगा। (साधारणीकरण और 'यक्ति वैचि-यवाद')

'नूतन सृष्टि क निमाण' का विरोध करने की एक परिणति यह हुई है कि गुबलजी न काव्य म सौ-दर्य की सत्ता मुख्यत रचना या मजन मन मानकर 'सामग्री' म मानी है। काव्य के प्रसंग म सौ-दर्य की चचा उहान अधिवाशत कण्य विषय ने सौ-दर्य क सम्बन्ध से की है। आक्षाय शुधल प्रतिनिधि निबन्ध म सकलित 'कविता क्या है? लेखक द्वितीय अनुच्छेद मे प्राकृतिक और मानवीय सौ-दर्य पर मुख्यता के मबध मे गुबलजी ने सौ-दर्य के अधिष्ठाना की जो सूची दी है उममे तो यह प्रकट होता ही है कि कविता म किस प्रकार की विषय वस्तु सौ-दर्य भावना की सृष्टि करती है,

द्वारा अतिरिक्त भी जान ग्याना पर उतान काव्य-मोक्षय की गता विषय वस्तु सवधी मोक्षय की दृष्टि में है। उतान कहता है कि "कविता मृष्टि-सौंदर्य का अनुभव कराती है और सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुसित वस्तुओं से विरक्त करती है। कविता जिन प्रकार विकसित ममल रमणी के सुल आदि का सौंदर्य वित्त में अवित्त करती है, उमी प्रकाश औदाय थीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौंदर्य भी त्रियाती है। 'काव्य म लोकमगल और माधुय गीपन नेप म भी इन दृष्टिकाण का ममयन मिलता है 'भीषणता और मरगता, योमनता और वठोरता, वटुता और मधुरता, प्रचडता और मृदुता ता गामजस्य ही लोक्षम का सौंदर्य है। आदिकवि बाल्मीकि की वाणी इसी सौंदर्य व उद्घाटन महोभव का दिव्य मगीन है। मोक्षय का यह उद्घाटन अमोक्षय का जावरण हटाकर होता है।

धम्नु म सौंदर्य की प्रतिष्ठा का विस्तार मगल भावना म मोक्षय व साक्षात्कार तक हुआ है। लोकमगल की माधना के लिए विय जान जाने सधप म गुलजी न मोक्षय के दशन विण है। उनके विचारानुसार मनुष्य व गरीर व जसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं व म ही उमके हृदय के भी कौनन और कठार, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और वरावर रहगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षा के ममवय के बीच मगल या सौंदर्य व विवाम म दिखाई पडती है (काव्य म लोकमगल और माधुय)। उतान इन धारणा का प्रतिवाद किया है कि काव्य म लोकमगल के विधान से उपदेशात्मकता या नीरमता जाती है। का य म मधप की मफनता उपदेश या शिक्षावाद से मुक्त रहती है, क्योंकि उमका अकन 'कम-सौंदर्य के रूप म होना है। गुलजी के जपन शब्दो म, कवि कम सौंदर्य व प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अत प्रवृत्ति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता। इसलिए "मगल अमगल व द्वन्द्व म कवि लोग जत म मगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करत है उमम सदा शिक्षावाद (Didacticism) या जस्वाभाविकता की गव ममझकर नाक ना सिक्कोडना ठीक नहीं। काव्य म यदि कभी मगल शक्ति का पराभव दखन म आए, तो भी सौंदर्य अक्षुण्ण रहता है क्योंकि 'गति में भी सुन्दरता है और सफलता में भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है, तभी इसम सुन्दरता जाती है। (काव्य में लोकमगल और माधुय)

काव्य म लोकमगल का समावेश सदा न मही कई बार शिक्षावाद और उपदेश म परिणत होकर उरुके सौंदर्य की क्षति करता है—गुलजी न यह अस्वाकार नहीं किया है, बल्कि यह बतलाया है कि एसा किस स्थिति म होता है। उनका विचार है कि 'जस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक नहीं हागा (काव्य म लोकमगल और माधुय)। यहा गुलजी न काव्य-सौंदर्य व विषय म यह स्वीकार किया है कि काव्य म विषय वस्तु का जपना सौंदर्य 'बीच के विधान पर बहुत-कुछ निभर

रहता है। वस्तु-सौन्दर्य की प्रतीति तभी होगी जब 'बीच का विधान' ठीक हागा, अथवा विषय वस्तु की सुदरता के व्यक्त न हो पान का खतरा पैदा हो जाएगा। इस महत्त्वपूर्ण बिंदु का शुक्लजी ने यहाँ एक वाक्य में चलता कर दिया है। उस पर यहाँ जितने विस्तार से लिखना चाहिए था, नहीं लिखा है। इसका कारण शायद यह है कि उनकी रुचि मुख्य रूप से वस्तु-सौन्दर्य में थी, विधानगत सौन्दर्य में नहीं। शुक्लजी ने काव्य में कल्पना की भूमिका को यदि समुचित महत्त्व दिया होता, तो वे विधानगत सौन्दर्य को गौण नहीं मानते। यह मानने हुए भी कि "काव्य वस्तु का सारा रूप विधान कल्पना की क्रिया में होना है, उहो न कल्पना के काव्य को प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विधान में विभाजित कर दिया है। कल्पना की स्पष्टता प्रस्तुत अप्रस्तुत जैसे विभाजन का अतिरमण कर सकती है—यह बात शुक्लजी के ध्यान में हीत हुए भी उन्हें स्वीकार नहीं थी। जहाँ वे अलंकारों को बाहरी सजावट की चीज मानते रहे, वहीं 'रूप की मूर्ति को सम्प्रेषण का साधन मानकर चल। कवि की कल्पना स्वप्न के निकट पहुँच सकती है, इस सम्भावना को अस्वीकार न करते हुए भी शुक्लजी इस सम्भावना के निहितार्थ को स्वीकार नहीं कर पाए हैं। उन्होंने लिखा है कि "काव्य संघथा स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका कोई मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी बाह्य इंद्रिया के सामन नहीं रहता और काव्य वस्तु भी।" स्पष्ट है कि स्वप्न और कल्पना का यह सादृश्य बहुत स्थूल और मतही है। दोनों तक का अतिरमण कर जो अप्रुव दृश्य उपस्थित करने हैं, वह शुक्लजी को अमान्य था। इसलिए उन्होंने कल्पना को प्रत्यक्ष जगत की परछाई मानने पर जोर दिया। उनके मतानुसार "प्रत्यक्ष रूप विधान के उपादन से ही कल्पित रूप विधान होता है। प्रत्यक्ष रूप विधान का आधार लेते हुए भी कल्पित रूप विधान तक का अतिरमण कर अनगलाभासी रूप में ढल सकता है और उस स्थिति में वह काव्य के काम की चीज बना रह सकता है, शुक्लजी यह मानने को तैयार नहीं जान पड़ते। काव्य में अनगलाभासी कल्पना की सम्भावना को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा है "इन ढाँचा को नेकर हम विलक्षण रंग रूप की वस्तुएँ खड़ी कर सकते हैं पर यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि उन वस्तुओं का रूप रंग प्रकृति से जितना ही दूर घसीटा जाएगा, उतनी ही वे वस्तुएँ कल्पना में कम देर टिकेंगी। घोंडे के मुँह वाले किन्नर, पुष्कराज की चट्टानों और सोन की रेत के बीच बहती हुई नर्मियाँ, आग के बने हुए शरीर एक क्षण के लिए मन में आ सकते हैं, पर सोन की चिड़ियों की तरह चट उड़ जायेंगे" ('काव्य का रूप विधान और कल्पना')। शुक्लजी की दृष्टि में काव्य के काम की कल्पना वही है जो 'सच्ची और गहरी अनुभूति' उत्पन्न कर सके। उन्होंने लिखा है कि "काव्य का प्रयोजन की कल्पना वही होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होनी है और हृदय पर प्रभाव डालती है" (काव्य का रूप विधान और कल्पना)।

कल्पना का नूतन स्रष्टि के निमाण की दृष्टि में महत्त्व न देकर शुक्लजी ने उस प्रत्यक्ष जीवन की अनुगामिनी माना इसमें उन्हें काव्य मौल्य का रहस्य 'मूल और आदिम भावा' के उदघाटन में दिग्दर्शक दिया। 'भाषा शीपक लक्ष्य में उद्धान लिखा है कि सम्म्यता का विकास होना कालम्बुरूप "उत्तेजित शोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है—जहाँ भी कुछ कपड़े-बने आदि पहनकर समाज में जाता है जिसे मार पीट, छीन-खसाट आदि भेदे समझे जान जाते व्यापारों का कुछ निवारण होता है। × × × पर यह प्रच्छन्न रूप उनका ममस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उदघाटन काव्य का एक मुख्य काय है। चिन्तामणि, पहला भाग में संकलित कविता क्या है? शीपक लेख में तो वे यहाँ तक कह गए हैं 'आदिम रूपों और व्यापारों में वगानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव में, भावा के उदयोधन की गहरी शक्ति संचित है अतः इनके द्वारा जैसा रस परिपाक सम्भव है वैसा बल कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन हवाई जहाज ऐसी वस्तुआ तथा जनायालय के लिए चूक काटना, सबस्व हरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला जलाना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

इस दृष्टिकोण का विस्तार हम सीमा तक हुआ है कि रूप की वाच्य प्रेषणा शक्ति का स्रोत भी शुक्लजी को उमर 'आदिम होने में दिखलाई दिया है "जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपा और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ से गूढ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते, तब तक उन पर काव्य दृष्टि नहीं पड़ती। (कविता क्या है?, चिन्तामणि, पहला भाग)

'रसात्मक बोध के विविध रूप में शुक्लजी ने यह स्वीकार किया है कि "मना वक्तिया या भावों की सुन्दरता, भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन में उठती है।" इसके साथ नूतन स्रष्टि के निमाण की बात उद्धान नहीं मानी है। उपयुक्त लेख में अनुभूति से कल्पना की स्वतंत्रता की चर्चा पूर्वपक्ष के रूप में ही की गई है

'उपर गिनाए हुए तीन प्रकार के रूप विधानों में से अन्तिम (कल्पित) ही का यत्न शीपक और साहित्य भीमाशुको के विचार क्षेत्र में भीतर लिये गए और लिये जाते हैं।" वास्तव में यह है कि काव्य शब्द व्यापार है। वह शब्द स्वतंत्रता द्वारा ही अन्त में वस्तुआ और व्यापारों का मूर्तिविधान करने का

प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रशिक्षा का संबंध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित हीन है। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करन बैठता है, वे उस समय उसमें सामन नहीं होते, कल्पना ही हीन है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि कवि-कर्म का निरूपण करने वालों का ध्यान रूप विधान के कल्पना पक्ष पर ही रहे, रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे सम्बद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी जाए।”

गुनलजी काव्य में कल्पना की प्रतिष्ठा के पक्ष में नहीं थे, यह बात उनके इसी लेख में जाए इस वाक्य से भी प्रकट होती है—“आजकल तो भाव की बात दायी गई है क्योंकि कवि की नूतन सृष्टि इसी (कल्पना) की वृत्ति समझी जाती है। कल्पना पर अधिक बल देने से कला या वाच्य की स्वायत्तता के प्रतिपादन का रास्ता खल जाता है, जो गुनलजी को स्वीकार नहीं था। इस स्थिति की सम्भावना का विरोध करते समय उनकी वाणी व्यर्थ से तीखी हो उठी है—‘निम्न प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति से कलानुभूति या काव्यानुभूति को एकदम अलग कहने की चाल योरोप में चली उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप विधान से कल्पित रूप विधान को असम्बद्ध घोषित करने की रुढ़ि प्रतिष्ठित हुई। कल्पना को एक निराली बुनियाद दे दी जाने लगी और कवि लोग दूसरी सृष्टि बनाने वाले विश्वामित्र हुए।”

काव्य वस्तु की अद्वितीयता के भाव को गुनलजी ने व्यक्ति-वचिन्म कहते हुए उसे काव्य के धर्म के साथ सादात्म्य की अनुभूति की तुलना में हीन माना है। उन्होंने कहा है कि—“शील विशेष के परिज्ञान में उत्पन्न भाव की अनुभूति और आत्म्य के साथ सादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रम कहा है) दो भिन्न काटि की रमानुभूतियाँ हैं।’ दोनों प्रकार की रमानुभूतियाँ में उन्होंने जो भिन्नता बतलाई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक रसानुभूति का संबंध सादात्म्य की स्थिति में है, अद्वितीयता की अनुभूति में नहीं। शील-वचिन्म और उदात्तवृत्ति वाले पात्रों के साक्षात्कार में भिन्नता यह रहती है कि—“प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मन सत्ता में मग्न जाता है।’ भाव-योजना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने उसे मध्यम कौटि की रस दशा कहा है—“किसी भाव की व्यञ्जना करने वाला, कोई प्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दशक) के किमी न किमी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति घणा, रोष, आश्चर्य, बुद्धि या अनुराग का—आलम्ब्य होता है। इस दशा में श्रोता या दशक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यञ्जना पात्र अपने आत्मन में प्रति करता है, कवि व्यञ्जना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और भाव का अनुभव करता है। यह दशा

भी एक प्रकार की रस दशा ही है। पर इस रगात्मकता को हम मध्यम कोटि का ही मानेंगे।'

श्रीन वैचिन्त्य का भान उसमें व्यञ्जक पात्र व साय पाठन या दशक का तादात्म्य नहीं होने देता इसलिए उमके साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता, जबकि शुक्लजी न काव्य की जो परिभाषा की है, उमका केन्द्रबिन्दु 'साधारणीकरण' है। चिन्तामणि पहला भाग के 'कविता क्या है?' खस म उहाने कविता को परिभाषित करते हुए लिखा है 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उमे कविता कहते हैं।' काय के प्रति इस अभिगम म नूतन सृष्टि का निर्माण करन वाली कल्पना के उत्पन्न का न खप सक्ना स्वाभाविक ही था।

लेकिन 'आत्मा की मुक्तावस्था' क मादृश्य पर 'हृदय की मुक्ति की साधना की परिकल्पना म जाध्यात्मिकता की जा गध जाती है, वँसा कुछ भी शुक्लजी की सिद्धांत व्यवस्था म नहीं था। शुक्लजी की दृष्टि म हृदय की मुक्ति का अभिप्राय पाठन या दशक का लोक सामाय की भूमि पर पहुच जाना है "कविता मनुष्य के हृदय को स्वाध-सवधा के सनुचित मडल म ऊपर उठाकर लोक सामाय की भूमि पर ले जाती है जह जगत की नाना गतिया क मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का सचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता मे विलीन किए रहता है। उमकी अनुभूति सब की अनुभूति होती या हो सकती है।"

सही बात यह है कि काय या कला की चर्चा म 'अध्यात्म' का हस्तभेप शुक्लजी का पसद नहीं था। काय म लोकमगल और माधुय' शीषक लेख म उहाने स्पष्ट शब्दो मे कहा है "अध्यात्म शब्द की मेरी समझ म काय या कला के भेत्र म कोई कही जरूरत नहीं है।

इस दृष्टि से शुक्लजी न रस सिद्धांत को एक महत्वपूर्ण मोड देते हुए कल्पना और विम्बग्रहण से—इस प्रकार काय के रूप पर से—रस का सम्बन्ध उदघाटित किया। कल्पना सृष्टि की स्वायत्तता का विरोध करते हुए भी उहाने इन बात पर जोर दिया है कि "हृदय के ममस्थल का स्पर्श तभी होता है जब जगत् या जीवन का कोई सुन्दर रूप, मार्मिक दशा या तथ्य मन म उपस्थित होता है' ('काय का रूप विधान और कल्पना')। यह मानते हुए भी कि "रस और भाव ही कविता के प्राण है, उहाने यह कहा है कि "कविता म कही गई बात चित्र रूप मे हमारे सामन आती है, सनेत रूप म नहीं। अत उमम गोचर रूपा का ही विधान अधिकतर होता है' ('कविता क्या है?', आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबध)। चिन्तामणि, पहला भाग मे सगृहीत

‘कविता क्या है?’ सख से शुक्लजी का यह वाक्य बहुश उद्धृत रहा है—“काव्य म अथ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, किन्तु ग्रहण अपेक्षित होता है।’ लेकिन इस प्रकार के वाक्यों से इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि शुक्लजी कल्पना या चित्रण को सीधे उसी की हैसियत में मान देते हुए इस सम्बन्ध में उनका इन वाक्यों का याद रखना होगा “यूरोपीय साहित्य मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवाय साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं’ (उपयुक्त)। धनानन्द और सुमित्रानन्दन पंत की कविता से लाभणिक प्रयाग के जनक उदाहरण देकर शुक्लजी ने यह समझाया है कि अभिव्यक्ति की वनता के मूल में कल्पना ही कार्य करती है। सिद्धांततः उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि ‘भाषाशैली को अधिक मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है। साधन रूप में कल्पना को पूरा मान देते हुए उन्होंने लिखा है “काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवाय है। (‘रसात्मक बोध के विविध रूप)

शुक्लजी के सौन्दर्याशास्त्र के प्रमुख पन्ना को जालाकित करने पर यह प्रतीत होता है कि उन्होंने भारतीय रस सिद्धांत और पाश्चात्य कल्पना सिद्धांत को परस्पर मिलान का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने रस सिद्धांत का अध्यात्म से हटाकर विशुद्ध मानवीय भूमि पर स्थापित किया है और कल्पना की स्वायत्त सृष्टि का निषेध करते हुए रमानुभूति के साधन रूप में उसकी अनिवायता का प्रतिपादन किया है।

समय के प्रयत्न व बावजूद शुक्लजी भारतीयता की आरंभ हुए जान पड़ते हैं। अपने लेखों में उन्होंने ‘हमारे यहां’ का उल्लेख रह रह कर किया है। इसी आग्रह के फलस्वरूप उन्होंने काव्य को बला मानने से भी कहीं कहीं इन्कार किया है। ‘काव्य का रूप विधान और कल्पना’ में कलाआ के काम वासना सम्बन्धी सिद्धान्त के सदृश में उन्होंने लिखा है

“उपयुक्त सिद्धांत का ही एक अग काम वासना का सिद्धांत है जिसके अनुसार काव्य का सम्बन्ध और कलाआ के समान काम वासना की वृत्ति से है। यह मत काव्य को ललित कलाओं में गिनने का परिणाम है। कलाओं के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत कुछ ठीक कहा जा सकता है। इसी में चौमठ कलाआ का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई है।’

लेकिन शुक्लजी भारतीय चिन्तन परम्परा से बंधे नहीं हैं। काव्य को बला मानने या न मानने के विषय में अपना मत स्थिर करने में पूर्वकाल के विषय में भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाओं का अंतर समझ लेने के बाद उन्होंने अपना मत निश्चित किया है “यदि कला का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौमठ कलाआ में है—

२४/ वात् मनोरजन या उपभोग मात्र का विधायक, तो काव्य के सबध म दूर ही से इस
 नमस्कार करना चाहिए।" इस परम्परागत अर्थ को अस्वीकार कर शुक्लजी न
 का बला माना है। डटन न शक्ति-काव्य और कला काव्य म जो भेद किया था,
 काव्य स्वीकार कर उहोन लिखा "वास्तव म कला की दष्टि दोनों प्रकार के काया
 उसे अपभ्रित है। साधनावस्था या प्रयत्न पत्र का लेकर चलन वाले काय्या मे भी यदि
 म यह चुक हुई ता लोकगति का परिचालित करने वाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो
 कला" ('काव्य म लोकमगल आर माधय)। 'कला के वामशाम्प्र मम्मत अर्थ का
 सवेगा मण कर शुक्लजी ने 'काव्य-कला जैसे पद का प्रयोग एकाधिक बार किया है जो
 अतिप्र पृष्ठा म दिए गए उद्धरण म से कुछ म उपलब्ध है।

पिछले परम्परा का अतिप्रमण उनके रस सिद्धांत म भी दिखलाई देता है जहाँ
 'रस' का अस्तित्व काव्य म परिरुद्ध न मान कर लोक म भी माना है। 'रसात्मक
 के विविध रूप म रस को लाकोत्तर मानन क विषय म उनकी असहमति बहुत
 बोध है।

स्पष्ट इसी प्रकार कलावाद की अस्वीकृति भी उनके सौन्दर्यशास्त्र म खुलकर सामन
 है। जीवन निरपन्न और अपन आप म पूण कल्पना मष्टि का व काव्य का सम्मान
 आइ शी तयार नहीं हुए ह। उनकी अनक स्थापनाआ क मूल म कलावाद का निषेध
 देन क तहित है, लेकिन इस निषेध की सर्वाधिक मुखर परिणति नैतिकता मे सौन्दर्य के
 अतिर म दिखलाई देती है जिसका सबसे भास्वर रूप काव्य म लोकमगल की
 विस्तारता है।

स्थाप आचार्य शुक्ल का सौन्दर्यशास्त्र इस बात का प्रमाण है कि परम्परा चाह कितनी
 मद्द हो, वह दष्टिकोण की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकती। प्रतिभाशाली
 ही म परम्परा म काट-छाट करते हुए उसके बल पर आग बढ़ता है और स्वयं आगे
 चित हुए परम्परा को भी जागे ने जाता है। कई बार एकाधिक परम्पराएँ भी उसकी
 बढ़ते तिव्यवस्था म एकावित हो जाती ह। शुक्लजी का सौन्दर्यशास्त्र इसका जीवत
 सिद्धहरण है।

रस-दृष्टि

आचार्य रामचन्द्र गुप्त के रस-सम्बन्धी विचारों में एक और रीतिवादी नवविद्या की शब्द ग्रीडा का ता ठूमरी आर पश्चिमी साहित्य चिंतन में कलावाद की प्रतिष्ठा का विरोध निहित है, फिर भी यह सोचना गलत होगा कि उनका रस सिद्धांत नियेध के गभ से जनमा है। रीतिविद्या की गद ग्रीडा और पश्चिमी साहित्य चिंतन में रूपवाद का उदयान को निरस्त करने के प्रयाजन से उहान रस की प्रतिष्ठा नहीं की है, प्रयुन उमके पीछे काव्य के मम का स्वोजन की वही प्रेरणा रही है जिसन उनस 'कविता क्या है शीपक' से तीन तीन लेख त्रिसवाय। 'रसदशा' की चर्चा गुप्तजी न काव्य की सिद्धि का रूप में करते यही प्रकट किया है कि उनक मतानुसार काव्य रचना का प्रयोजन रस दशा का निष्पादन है। 'कविता क्या है ? शीपक' से लिखे गए अपने अंतिम लेख के प्रथम परिच्छेद में गुप्तजी ने 'रस दशा' के रूप में हृदय की मुक्ति को काव्य का प्रयोजन माना है "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उन्नी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जा शब्द विधान करती आई है, उस कविता कहते हैं।"^१

गुप्तजी के उपर्युक्त शब्दों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उहान काव्य की साधकता उसकी रसात्मकता में मानी है और 'रसात्मकता' की परिकल्पना में उहोन मानवीय तथा कलात्मक अभिप्रायों को परस्पर सम्मृक्त रूप में प्रस्तुत किया है। हृदय की मुक्तावस्था का उहोन जो प्रतिपादन किया है, वह रस का मानवीय अथवता प्रदान करता है क्याकि हृदय की मुक्ति की उनकी धारणा वस्तुतः निजबद्धता की विरोधी है। उहाने पहल हृदय के बद्ध स्वरूप की चर्चा की है, उसके बाद हृदय की मुक्ति की बात कही है "जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र से (अर्थात् जगत से) नाना रूपा और व्यापारा को जपन योग श्रेष्ठ, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करने देयता रहता है, तत्र तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपा और व्यापारा के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपन-आपको बिलबुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्तहृदय हो जाता है।"^२

१ चिन्तामणि, भाग १ (१९३९), पृ० १५१

२ वही, पृ० १५१

इस मानवीय अभिप्राय के साथ गुकलजी न कलात्मक अभिप्राय जोड़ दिया है। 'रसात्मक बाध के विविध रूप' शीपक निबन्ध में गुकलजी न प्रतिपादित किया है कि कविता के बाहर भी हृदय की मुक्ति सम्भव है और उम स्थिति में भी रसानुभूति होती है। लेकिन कविता के सम्बन्ध में रस की प्रामाणिकता रचनार्थमिता पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि 'हृदय की मुक्ति' के सिद्धांत का काव्य कक्ष में उपस्थित करते ही गुकलजी शब्द विधान को सामने ले आए हैं "हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"^१

गुकलजी न मानवीय और कलात्मक अभिप्रायों का 'रस' में जिस सश्लिष्ट रूप में पाया, उसके विरोध की जाशवा उन्हें कलावाद की ओर स हुई और रीतिकालीन कविता की शब्दश्रीला उन्हें कलावाद के निकट प्रतीत हुई। उन्होंने कलावाद के साथ अनेक बार रीतिकालीन कविता की शाब्दिक कलाबाजी के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कलावाद और शब्दश्रीला में मानवीय पक्ष का अभाव पाकर उन्होंने उमके विरोध में 'रस का प्रतिपादन किया है।

भारतीय कला दृष्टि ने तो 'रस के ही सबन्ध से विभिन्न कलाओं को एक ही धारातल पर रखा था, फिर भी गुकलजी न अपने अनेक लेखों में प्रकटत 'कला' पर आक्रमण किया है, तां इसका कारण यह है कि 'कला' के सबन्ध में उनकी अपनी एक धारणा थी। उनकी मान्यता थी कि कलाओं का सबन्ध मुख्यतः बोध से होता है जिसके कारण कलाएँ रूप सौंदर्य के सबन्ध में आस्वाद्य होती हैं। कला की रूप रचना कलाकार की अपनी कल्पना से निम्पन होती है, जीवन के सराकारों के लिए उनमें स्थान नहीं होता। इसलिए कला एक स्वायत्त रूप रचना में साथक हो सकती है, लेकिन रूप रचना की यह स्वायत्तता साहित्य के लिए हितकर नहीं हो सकती। उनकी दृष्टि में साहित्य की साथकता, भाव सवेदन की प्रक्रिया से व्यापकतर मानवीय अनुभूति से सम्पन्न होना है। इसी कारण उन्हें रस सिद्धांत और कलावाद में विरोध दिखलाई दिया है। रस भीमासा में उन्होंने कलावादियों के दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए लिखा है 'भावा की सच्ची और स्वाभाविक अनुभूति Sentimentality बहकर टाकी गई और कलानुभूति उससे सबन्ध भिन्न और स्वतंत्र अनुभूति बतलाई गई। मतलब यह कि जिसे अनुभूति से मनुष्य हाथ पंर हिनाता है, जिसे अनुभूति से गुभाशुभ कर्मों का प्रवर्तन होता है, जिसे अनुभूति से मानवी प्रकृति का उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होता है, वह इन कलावादियों के अनुसार काव्य क किमो उपयोग की नहीं।'^२ काव्य में इस विचार दृष्टि के प्रवेश पर चिन्ता व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा "कला शब्द की बढती हुई पुनः

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४३

२ रस भीमासा, पृ० ३३८

के माथ उहाने यह कहना आरम्भ किया कि वाक्य का कोई विषय या व्यंग्य वस्तु (या भाव) नहीं होता, अथवा जिम रूप में कोई वाक्यात्मक वाक्य हमारे सामने आता है, उसमें अलग कोई आधार वस्तु दूखना व्यर्थ है।^१

कला में रूप की स्वायत्त मण्डि की महत्त्व उहाने इसीलिए स्वीकार नहीं किया कि उसमें भाव-मवेदन की अनिवायता नहीं रह जाती। जिम वाक्य-रचना में भाव-निमग्नता अपक्षित न हो, वह गुक्लजी की दृष्टि में 'मिरपन्ची ही थी और जिम तरह यह 'सिरपन्ची' की जाती है, उसे उहाने 'बावनापन आर 'दिमागी कमरत' कहा है "यो ही मिरपन्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए—बुछ अनोखे रूप सडे करना या बुछ का बुछ कहन नगना या तो बावलापन है या दिमागी कमरत, सच्चे कवि की कल्पना नहीं।"^२ 'कला की इसी धारणा के फलस्वरूप वाक्य को कलाआ के अंतगत रखना उहाने नवशाही और बनबूटा तथा मजावट या मनोरजन की सामग्री बना देना प्रतीत हुआ। अपने लेखन में यह आरोप उहाने बार बार उन लोगों पर लगाया है जो वाक्य को कलाआ के अंतगत रखने थे। जहाँ भाव संवेदन और रूपबोध में सहयोग हो, वहाँ वे मनुष्य जान पड़ते हैं, लेकिन उनका लिए इस सहयोग का अर्थ यह है कि रूप रचना रसानुभूति का माधन बन जाए। उहाने लिखा है "हमारे यहाँ काल्पनिक रूप विधान साधन की कोटि में रखा गया है, माध्य वस्तु रसानुभूति ही रखी गई है। भारतीय वाक्य दृष्टि के अनुसार कवि की कल्पना भावा की प्रेरणा से ही रूप-विधान में प्रवृत्त होती है और श्रोता या पाठक की कल्पना उस रूप विधान का ग्रहण कर भावों को जगाती है।"^३

जब-जब गुक्लजी इस विषय में मजग हुए हैं कि श्रोते जैसे विचारकों ने कला में रूप मण्डि को साध्य मानकर उसकी स्वायत्तता का जो प्रतिपादन किया है, उसके कारण कला जीवन निरपेक्ष मानी जान लगी है, तब तब उहाने साहित्य का कलाआ से बाहर रखन पर बल दिया है। लेकिन जब जब वे इस चिन्ता से मुक्त हुए हैं, तब तब उहाने न केवल 'काव्य कला' जैसे पद का प्रयोग किया है, साहित्य की समझ और मूल्यांकन के लिए कला दृष्टि की प्रासंगिकता भी स्वीकार की है और एसा करने समय उहाने एक सीमा तक श्रोते के मत को भी स्वीकार किया है "यह भी समझ रखना चाहिए कि वाक्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, सामान्य नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूणतया स्थिर हो चुकी

१ रस मीमांसा, पृ० ३३६

२ वही, पृ० ३४८

३ वही, पृ० ३०३

हे।^१ स्पष्ट है कि गुक्लजी न यह विचार 'आधुनिक कला गमीना' से ग्रहण किया है। इस मत का मोत 'त्रोच' है, यह इन आधार पर कहा जा सकता है कि उहने काव्य म बिम्ब ग्रहण के महत्व का प्रतिपादन करा क साथ काय म 'विचार' या 'अवधारणा' का निषेध भी किया है और पादटिप्पणी म इस सिद्धात के सदभ म 'अभिव्यजनावाद' के प्रवतक त्रोचे द्वारा म्प्रतीत्यात्मन तान और ताविक ज्ञा म किये गय भेद का उल्लख किया है।^२

गुक्लजी न काव्य म बिम्ब ग्रहण पर उन दन हुए भी रूप रचना और भाव-सवेदन के नाते कला और काय म भेद किया है तो इसका कारण यही है कि निरी रूप सट्टि और उमकी स्वायत्तता उह जीवन क माय कला के सबध म बाधक प्रतीत हुई, जबकि भाव सवेदन, जो उनकी रस दष्टि का कद्र है, काव्य को जीवन से जोडता है। इसलिए जिस बिन्दु पर बिम्ब ग्मानुभूति म योग दता है, उस बिन्दु पर उहोंने त्राचे को स्वीकार कर लिया है 'काव्य का काम है कल्पना म बिम्ब (Images) उपस्थित करना, बुद्धि के मामने कोई विचार (Concept) ताना नहीं।^३ यह सिद्धात गुक्लजी का अपना नहीं है, आधुनिक कला समी ता के क्षेत्र स गहीत है लकिन उहाने इसम सार पाया है, जैसा कि उनके इन गत्या स प्रकट हो रहा है "इस सिद्धात का तात्पय यह है कि गुद काय की शक्ति मामाय तथ्य-कथन या सिद्धात के रूप म नहीं होती है। कविता वस्तुआ और व्यापारा का बिम्ब ग्रहण करान का प्रयत्न करती है अय ग्रहण मात्र स उमका काम नहीं चलता।^४ जपन लेखन मे यह मतन्य उहाने अनक बार प्रकट किया ह।

फिर भी गुक्लजी न यह कभी नहीं माना कि बिम्ब सट्टि अपन आप म काव्य-रचना का लक्ष्य हा सकती है। यही वह सीमा है जहाँ स त्रोच उहे स्वीकाय नहीं रह जाते। त्रोच का मत उहान यही तक अगीकार किया ह जहा तक वह रस क साथ उह सगत प्रतीत हुआ ह—जहा तक साधारणीकरण स उनर मत का विरोध न हा। इसी लिए उहान अपन सामन यह समस्या रखी ह "जब यह दखना चाहिए कि हमारे यहा जो 'साधारणीकरण' कहा गया ह, उसके विरुद्ध तो यह सिद्धात नहीं जाता।^५ इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उहान लिखा है 'विचार करन पर स्पष्ट हो जाएगा कि दोना म कोई विरोध नहीं पडता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होत है, इस कथन का

१ रस मीमासा, पृ० ३०९

२ वही, पृ० ३१०

३ वही, पृ० ३१०

४ वही, पृ० ३१०

५ वही, पृ० ३११

अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष वस्तु या मूल भावना के रूप में आकर व्यक्तिमात्र या वस्तुमात्र (जाति) के अर्थ सकेत के रूप में आने हूँ।^१ इसके विपरीत "कल्पना में मूर्ति तो विशेष की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो उमी भाव की पाठक या श्रोता के मन में जगाए जिसकी व्यजना आश्रय अथवा कवि करता है।"^२ इन शब्दों में रम मिद्वान्त के साथ प्रोचों के मत की सगति की सीमा खोजने का प्रयत्न शलक रहा है। यहाँ यह स्पष्ट दिखता है कि रस निरूपण की बँधी-बँधाई लीक से हटकर गुकनजी ने उसे आधुनिक बालमिद्वान्त के प्रयोग में प्रस्तुत किया है।

ऐसा करते समय गुकनजी का नगा है कि काव्य नदा साधारणीकरण की प्रक्रिया से ही आस्वाद्य गही होता—और तरह से भी काव्यास्वाद सम्भव है। आधुनिक कला चिन्तन में परिचित होना के परिणाम स्वरूप उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया कि कई बार श्रोता या पाठक का तादात्म्य आश्रय से नहीं हो पाता, उन स्थिति में काव्य का आलम्बन सहृदय के उमी भाव का आलम्बन नहीं बन पाता जिस भाव का आलम्बन वह आश्रय के लिए है। रम मधरा की दुर्भावना के आलम्बन है, लेकिन वे पाठक या श्रोता के उस भाव के आलम्बन नहीं हों। इस स्थिति का समाधान यह है कि काव्य का कोई पात्र सहृदय के उमी भाव का आलम्बन होता है जिस भाव का आलम्बन वह रचनाकार के लिए रहा है।^३ गुकनजी ने स्पष्ट शब्दों में यह विचार प्रकट किया है। लेकिन यह मान लेना पर एक दूसरी समस्या उत्पन्न होती है। कुछ पात्र कवि के अपने भाव के वाहक न होकर उनके प्रेक्षण के विषय होने हैं। उदाहरण के लिए 'मानस' की मधरा कवि की भावना की वाहक न होकर उसके धिक्कार की पात्र है। वह पाठक या श्रोता के भी धिक्कार का आलम्बन बनती है, लेकिन बाल्मीकि रामायण की मधरा न तो कवि की भावना की वाहक है, न उसके धिक्कार का आलम्बन। बाल्मीकि न मधरा के प्रति प्रशंसा या निंदा की भावना से ऊपर उठकर उसके स्वभाव की परतें खोलो है—एक प्रेक्षक के रूप में परम तटस्थ भाव में उसका चरित्र जकित किया है। फलतः बाल्मीकि रामायण के पाठक को मधरा के चरित्र का ज्ञान होता है, उसके प्रति कोई भाव उसके मन में नहीं जागता। ऐसी स्थिति में पात्र के चरित्र का विम्व तो उभरता है, लेकिन रसानुभूति भी होती है, यह कहना कठिन है। इस कठिनाई को स्वीकार कर लेना भी गुकनजी ने इस स्थिति को रस-दशा मानन का आग्रह किया है। उनका कहना है कि 'यह दशा भी एक प्रकार की रस

१ रस भीर्मासा, पृ० ३११

२ वही, पृ० ३१२

३ वही, पृ० ३१४

दशा ही है—यद्यपि इम आश्रय व माय तादात्म्य जीर उमके जानम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता।”^१

यहाँ जानर शुक्लजी रम सिद्धांत की मीमा का साधन प्रतीत होत है। रम की परम्परागत धारणा का अतिश्रमण करत हुए उहाने ‘शील विरोध व परिज्ञान से उत्पन्न भाव को भी ‘रस’ के भीतर समेट लिया है, लेकिन ऐसा करते समय यह स्पष्ट कर दिया है कि यह एक अलग तरह की ही रसानुभूति होती है। ‘शील विरोध व परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ ह।”^२ शुक्लजी के इन शब्दों में यह बात स्पष्ट रही है कि शील विरोध के परिज्ञान में उत्पन्न रसानुभूति का सिद्धांत परम्पराविहित जीर शास्त्रानुमोदित नहीं है इसलिए उहाने इस ‘रम की एक नीची अवस्था’ तक कह दिया है।^३ जयगकर ‘प्रसाद’ में अपने ‘रस’ सबधी लेख में इस अवस्था को रस की नीची अवस्था मानने का प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि वस्तुतः यह रस दशा तक पहुँचने का भोपान है।^४ मही बात यह है कि रस का आश्रय के साथ तादात्म्य और जानम्बन के साधारणीकरण के सबध से देखने पर यह बात हमारे ध्यान में नहीं आती कि रसानुभूति स्थिति मजना पर निर्भर करती है—आश्रय और जानम्बन रस स्थिति के अग ही होने के नाते प्रासंगिक होत हैं। लेकिन यह मान लेने पर इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन हो जाता है कि मसार की जनक साहित्यिक कृतियाँ रस स्थितियों के बिना ही महदया का कठहार रही हैं तो क्या रस के बिना भी कोई कृति साहित्यिक या काव्यात्मक हो सकती है? यदि कोई काव्यकृति पात्र विरोध के शील का परिज्ञान ही कराए या किसी समस्या को हमारी संवेदना में भावावग को उद्दीप्त किए बिना उभाए दे, तो शास्त्रीय दृष्टि से रसात्मक न होने पर ऐसी कृति को साहित्यिक या काव्यात्मक कैसे कहा जाए? इस समस्या में निपटने के लिए शुक्लजी को रस की एक नीची अवस्था की कल्पना करनी पड़ी^५ जिससे उन कृतियों को भी काव्य के अंतगत रखा जा सके जिनमें परम्परागत अथ व रस उपलब्ध नहीं है।

लेकिन इससे यह तो प्रकट हो ही गया कि शुक्लजी के सामने ऐसी कृतियों को भी रसात्मक मानने का सवाल आ गया था जिनसे पात्र विरोध के शील का परिज्ञान ही होता है। इसी आवश्यकता में नाथ विधायक काव्य से भिन्न भाव प्रदशक काव्य की

१ रम मीमासा, पृ० ३१३

२ वही, पृ० ३१५

३ वही, ३१३

४ अभिप्रेत मूल रम विषयक लेख दृष्टव्य है।

५ रस मीमासा, पृ० ३१३

नई कोटि की कल्पना करने के लिए उह प्रेरित किया।^१ कहने की आवश्यकता नहीं कि अतत गुक्लजी ने भाव सवदन क घेरे मे निकलकर 'बोध' के महत्व का भी स्वीकार कर लिया, लेकिन वे 'भाव' मे हटकर 'रूप' को मायता देने के लिए तैयार नहीं हुए। निश्चय ही आधुनिक कानाबोध ने उह प्रभावित किया था, लेकिन एन सीमा क आगे नहीं।

'रम' की रूत अवधारणा को अपयाप्त पाकर गुक्लजी ने कई प्रकार मे उमे नई अथवता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। प्रकृति वणन क सौदय को रम के अतगत रखन का आग्रह भी एव' ऐसा ही प्रयत्न था। 'कविता क्या है?' के द्वितीय आलेख (१९२२) म उहने लिखा "जिनकी आत्मा क आग बुमारमम्भव का हिमालय-वणन और 'मघदूत का नाना प्रदेश वणन नाच रहा था, वे स्पष्ट दख मके कि प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण शृ गार क उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं है गुद्ध वणन के निमित्त, दृश्य अकित करने के निमित्त है। उहने रस की नौ नानिया क भीतर एमे शुद्ध वणनो के लिए कोई गड्डा न पाकर 'रमात्मक वाक्य वाक्य मे असतोप प्रकट किया। पर असतोप ना नी बनाने वाला के प्रति होना चाहिए था रम मिद्धात क प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्या क वणन म एष प्रधार का रस अवश्य है, चाह उसे अनिवचनीय कट्टिण चाहे उमका कोई नाम रबिण, चाह उसे किमी रम के भीतर कीजिए।"^२

आचार्य गुक्ल की दृष्टि म 'रम' काव्यानुभूति का दूसरा नाम है, काव्यानुभूति का एक प्रकार नहीं। इसलिए उहने लक्षण निधारण और वर्गीकरण का रास्ता छोडकर विवेचन और विश्लेषण का पथ ग्रहण किया है। उहने रम को जघ्यात्म दान के घरातल से हटाकर ऐहिक स्तर पर उसका विचार किया है। यही कारण है कि उहने उसे आत्मा की मुक्तावस्था न बहकर उसके समातर हृदय की मुक्तावस्था कहा। एक स्थान पर उहने यह अवश्य लिखा है कि "इस मुक्त हृदय को व्यापक आत्मा का ही अश समचना चाहिए।"^३ लेकिन उनका यह कथन रस चर्चा के प्रसंग म 'आत्मा' की परम्परानुमोदित प्रतिष्ठा म अपन मत की समति बिठान की जावाणा मे प्रेरित प्रतीत होता है।

'रम' को काव्यास्वाद के रूप म लत हुए भी गुक्लजी न उमका विचार रसाद्रेक के कोण से उतना नहीं किया है जितना काव्यगत विधान की दृष्टि से। रस मीमासा का एक बडा भाग 'भाव' की चर्चा को समर्पित है तो दूसरा बडा भाग रस विधान म कल्पना की भूमिका का। 'रम' क मखध म अप्रस्तुत विधान की चर्चा उहने विस्तार से की है और रस योजना म उसकी भूमिका महत्वपूर्ण मानी है। इमसे यह सचेत भी

१ चित्तामणि, भाग १, पृ० २२७

२ सुधाकर पाडेय, आचार्य गुक्ल प्रतिनिधि निबध, पृ० ६७ (१९८३)

३ रस मीमासा, पृ० ३३५

मिथता है कि गुनजो काव्य कृति की सघटना से रस का गहरा सन्ध मानन थ। साध्य उहान रस को ही माना है, नकिन उम उमने विधान के माय रमवर'देया है।

गुनजो न रस को मनुष्य स मनुष्य का जाडन बानी गति के रूप म देया है, इमनिए उह नई गमीधा का वह सिद्धात आपत्तिजनक नगा है जिमने अनुसार "कृति ही प्रधान वस्तु बही जान लगी है और उमकी मत्ता कवि और श्रोता (या पाठक) दोना से स्वतथ ठहराई जान नगी है।^१ उनकी आपत्ति इम बात को लकर है कि यह मायता स्वीकार करने मे काय की सम्प्रेषणधामिता के स्थान पर उमनी रूप रचना की प्रतिष्ठा होती है जिमम मनुष्या के बीच क भाव-सम्बन्ध के निए कोई अवकाश नरी रह जाता।

इम स्तर पर गुनजो की दृष्टि म 'रस' काव्याम्बाद मे ऊपर उठनर मनुष्यता का माधक बन जाता है। ध्यान दन की बात है कि उहान 'रस' का सम्बन्ध पात्र के गीत मे जाडा है

"उच्च नक्षय रखने घाने, मनुष्य की प्रकृति का मस्कार या निमाण बग्ने की मामध्य रखन बाल प्रबन्ध-काव्य या नाटक के चरित्र चित्रण का आधार 'शीनदशा ही है। रामायण म राम की धीरता और गम्भीरता, लक्ष्मण की उग्रता और असहनशीलता, बटा के प्रति भरत की श्रद्धा भक्ति इत्यादि का चित्रण भिन्न भिन्न अवसरा पर भिन्न भिन्न व्यक्तिया के प्रति किए हुए व्यवहारा क मेल से ही हुआ है। आलम्बन का स्वरूप सघटित करन म उपादान रूप हाकर 'शीनदशा रसोत्पत्ति म पूरा योग देती है। जाथय की दृष्टि जिस प्रकार जानम्बन के बाह्य रूप पर जाती है, उमी प्रकार उसके जाभ्यतर स्वरूप पर भी जाती है। इस जाभ्यतर स्वरूप की याजना भिन्न भिन्न गीला म ही होती है।"^२

इस मोड पर गुनजो की रस दृष्टि मूल्य भावना म सम्पृक्त हो गई है।

काय म ही नही, जीवन म भी गुनजो न रसानुभूति की सत्ता मानी है। जब जब व्यक्ति अपन निजी याग श्रेम की भावना के मकीण घेरे से निकल कर लोकहित माधक व्यक्ति के प्रति उसी अनुभूति मे आगोलित हाता है जिमस दूसरे लोग जादालित है, तो उसे भी शुबलजी रसम्भा मानत है। जब जीवन म किमी ऐसे व्यक्ति के प्रति हमारे भाव उदबुद्ध होत है जो रुभी क—कम स कम महदयो के—समान भाव का आलम्बन हो सकता है, तब, शुबलजी के अनुसार, वह साधारणीकरण की ही स्थिति

१ रस मीमासा, पृ० ३३४

२ वही, पृ० १८९

होती है और उस स्थिति में हमारी अनुभूति—वाक्यानुभूति न होने पर भी—रसानुभूति ही होती है।^१

शुक्लजी ने प्रत्यक्ष या व्यावहारिक जीवन में सभी रसों की अनुभूति की समान सम्भावना में मानकर अलग-अलग रसों की अनुभूति अलग-अलग माना में सम्भव मानी है। वीर रस के सम्बन्ध में उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन की रसानुभूति का सम्बन्ध लोककल्याण की भावना में जोड़ दिया है 'अपने निज के लाभ वाले विकट कम की ओर जो उत्साह होगा वह तो रसात्मक न होगा, पर जिस विकट कम को हम लोककल्याणकारी समझेंगे, उसके प्रति हमारे उत्साह की गति हमारी व्यक्तिगत परिस्थिति के सन्तुलित मण्डन से सम्बद्ध न होकर बहुत व्यापक होगी। स्वदेशप्रेम के गीत गाने हुए नवयुवकों के दिल जिस माहसभरी उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिए निकलने हैं वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है।'^२ इस विन्दु पर आकर रसात्मकता और लोकमंगल एक-दूसरे में समा जाते हैं। शुक्लजी ने इन दोनों को एक स्तर पर रखने हुए लिखा है "मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। वाक्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के मध्य समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विषय में दिखाई पड़ती है।'^३

ऊपर उद्धृत शब्दों में शुक्लजी ने मंगल और सौन्दर्य का समीकरण करने के साथ ही रस के जीवन सर्दभ की व्यापकता पर भी प्रकाश डाला है। शुक्लजी की मायता थी कि रस की अपनी शक्ति उसके जीवन सर्दभित होने में ही निहित है। कल्पना की स्वतंत्र सृष्टि के विरोध में उन्होंने इसी कारण से भाव जगा सकने वाले रूपों की सृष्टि करने वाली कल्पना के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया है 'कल्पना की वही रूप योजना वाक्य के अंतर्गत आ सकती है जो श्रोता या पाठक के मन में कोई भाव जगा सकने में समर्थ हो, भाव जगान में वही रूप योजना समर्थ होगी जो जगत या जीवन का कोई गूढ़ या मार्मिक तथ्य सामने लाएगी जो विश्व के किसी अनुरजनकारी, क्षोभकारी या विस्मयकारी विधान का चित्र होगी।'^४

वाक्य के जीवन सर्दभित होने पर बल देते हुए जब शुक्लजी ने 'रस की सत्ता का विस्तार काव्य क्षेत्र से आगे ले जाकर प्रत्यक्ष या व्यावहारिक जीवन तक कर दिया

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २४८

२ रस मीमांसा, पृ० २७२

३ वही, पृ० ६४२

४ वही, पृ० ३०३-४

तो उनके सामने कठिनाई यह आई कि जीवन की अनुभूतियाँ मुख दुःखात्मक होती हैं, जबकि रसानुभूति प्रायः आनदात्मक मानी जाती रही है। इस उलझन से मुक्ति के लिए उन्होंने रसानुभूति की प्रक्रिया की व्याख्या अपने ढंग से करते हुए रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण बतलाए हैं

“(१) अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्व के सबंध की भावना का परिहार और

(२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदयमात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।”^१

फिर भी शुक्लजी की यह परेशानी दूर हो नहीं पाई कि यदि प्रत्यक्ष जीवन में भी रसानुभूति हो सकती है, तो उसे आनदात्मक कैसे माना जाए। रस भीमासा में पृष्ठ ८९ पर उन्होंने ‘रस’ को ‘प्रत्यक्ष दशा में आनदस्वरूप बतलाया जबकि उसी ग्रंथ में पृष्ठ १०१ पर उन्होंने निखा मेरी ममज्ञ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप ‘आनद शब्द से व्यक्त नहीं होता। पृष्ठ २७३ पर उन्होंने यह कहकर इस विरोध का परिहार करने का प्रयत्न किया है “आनद शब्द को व्यक्तिगत मुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।” लेकिन अगले ही क्षण करुण रस की बात उठाते हुए वे ‘शोक’ को आनदात्मक कहने में हिचक गए हैं “करुण रस प्रधान नाटकों के दशका के आँसुआ के सम्बन्ध में यह कहना कि ‘आनद में भी तो आसू आते हैं केवल बात टालना है। दशक वास्तव में दुःख का अनुभव करते हैं।” इस स्थिति में उन्होंने करुण रस की अनुभूति आनदात्मक न मानकर रसात्मक ही मानी है।

इस विचार प्रणाली में ‘रस’ की आध्यात्मिकता के लिए कोई अवकाश नहीं था। शुक्लजी इस दृष्टि से सम्कृत आचार्यों के पथ से हटे हुए दिखाई देते हैं कि उन्होंने रस निष्पत्ति की व्याख्या के लिए न तो किसी अध्यात्म दशन का सहारा लिया है न रस के स्वरूप पर विचार करते हुए ‘आत्ममविद और स्वप्रकाशानन्द विमय जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इसके विपरीत उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है “रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्वविक अनुभूति से सबथा पृथक् कोई अनुभूति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।

‘रस’ को वास्तविक या लौकिक अनुभूति के स्तर पर रखकर शुक्लजी ने उसे एक नया आयाम प्रदान किया है। ‘रस’ के स्वरूप विश्लेषण के लिए उन्होंने मनों

व्यापार के विविध पक्षा पर जो विचार किया है, उससे स्पष्ट है कि वे रस को एक मानसिक प्रक्रिया मानते थे।

गुक्लजी के रस चिन्तन के केन्द्र में मनोविज्ञान के जा जान में वह परम्परागत शास्त्रीय तक पद्धति से मुक्त हो गया है। 'आश्रय', 'आलम्बन', 'उद्दीपन', 'अनुभाव' 'व्यभिचारी भाव' जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग गुक्लजीने अवश्य किया है और रसानुभूति की प्रक्रिया की व्याख्या के लिए साधारणीकरण पर विचार करते हुए उन्हीं के आधार पर वे 'रस' का काव्य क्षेत्र से बाहर तक खींच ले गये हैं लेकिन उदात्तिवादी अनुमितिवाद भुक्तिवाद और अभि यजनावाद के मोरखबंध से वे दूर रहे हैं। 'विभाव' के नाना रूपा पर विचार करने के स्थान पर उन्होंने रस विधान में विभावन की भूमिका पर विचार किया है तथा अनुभावों और संचारी भावों के परिगणन के स्थान पर उन्होंने रस के सबंध में भाव मस्थानों में उनकी गतिविधि का विवेचन किया है।

इसलिए गुक्लजी के रस सम्बन्धी विचारों में ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने किसी बन-चनाएँ सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत लगता यह है कि उन्होंने काव्य-मौल्य के मम का अवेपण अपन ही ढंग और अपनी ही दृष्टि से किया है। उाका यह काव्य-वाक्यास्वाद की समस्या पर विचार कराने से आरम्भ हुआ है और उसमें काव्यविधान के योगदान को समझने की दिशा में जागे बढ़ा है।

यही कारण है कि एक ओर विभाव पक्ष के सबंध से प्रकृति वणन में भी उन्होंने रस की सत्ता प्रमाणित की है, तो दूसरी ओर अप्रस्तुत विधान का विचार भी रस के सबंध में किया है। रस के लिए प्रयोजित और रस विधान के प्रयोजन से निर्दिष्ट अप्रस्तुत योजना को उन्होंने काव्य के लिए मूल्यवान माना है।

रस के विषय में परम्परागत भारतीय विचार पद्धति से हटने हुए भी गुक्लजी ने अनेक बार 'हमारे यहाँ' की दुहाई दी है तो इसका कारण यह है कि पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में कला के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि उन्हें उम मानवीय भूमि से हटी हुई दिखलाई दी जिस पर साहित्य की महिमा को वे निभर मानते थे। लेकिन उनके सामने यह बात बहुत स्पष्ट थी कि साहित्य में मानवीय भावना का कितना ही महत्व क्यों न माना जाए कलात्मक प्रतिफलन के बिना उसका कोई अर्थ नहीं होता। इसीलिए उन्होंने काव्य में हृदय की मुक्तावस्था के लिए शब्द विधान के आयाजन को अभीष्ट बतलाया और अथग्रहण को अपर्याप्त कहकर विम्वग्रहण को महत्वपूर्ण माना।

लेकिन उनसे विचारों में यह सतुलन अत तक घना नहीं रह सका। उनकी रस-सम्बन्धी अवधारणा में मानवीय पक्ष के प्रति आग्रह वही-वहीं इस सीमा तक बढ़ गया कि सौन्दर्य और मंगल के बीच की सीमा रेखा ही उनकी दृष्टि से ओझल हो गई और उन्हें रस की सत्ता काव्य या शब्द विधान के बाहर भी दिखलाई देने लगी। जो

सिद्धांत का व्याख्यात की समस्या को समझने के प्रयत्न से उत्पन्न हुआ था, वह अपने मूल से हटाया जाने पर शुक्लजी के लिए एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर गया जिसे मुनश्जाने का कोई रास्ता उन्हें दिसलाई नहीं दिया। 'रस' की अवधारणा को काव्य-क्षेत्र से बाहर ले जान पर उनके सामने यह समस्या आई कि शोच करण रस धनकर आनंद में कैसे परिणत हो जाता है। इस प्रश्न न शुक्लजी को बहुत परेशान किया, किन्तु वे इसका कोई सतोपजनक उत्तर नहीं शोच पाए क्योंकि वे रस को इस अर्थ में भी लोकोत्तर नहीं मानते थे कि काव्यगत भाव की परिणति होने के कारण वह हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार में उदबुद्ध भावों में प्रकृत्या भिन्न होता है।

रस की नौविनता के प्रति शुक्लजी का आग्रह बनावाट की जीवन निरपेक्ष विचार दृष्टि की प्रतिक्रिया में उदभूत प्रतीत होता है। आधुनिक बना चिंतन के साथ सम्पर्क की परिणति उनके काव्य चिंतन में दोहरी शिखलाई देती है। उसके फलस्वरूप एक ओर वे रस को काव्यास्वाद की व्याख्या से आगे काव्यविधान के विचार की दिशा में ले गए, तो उन्हीं के फलस्वरूप दूसरी ओर उन्होंने उनकी लोकोत्तरता का सबंध निषेध किया। इतना ही नहीं रस को मानवीयता के उद्भव के रूप में उपस्थित कर उन्होंने उसमें एक नैतिक अभिप्राय भी जोड़ दिया।

अपनी समग्रता में आचार्य शुक्ल की रस दृष्टि काव्य तक परिरुद्ध नहीं रही है, वे उसे लोकमगल से प्रेरित सामूहिक भावैक्य की साधारणीकृत अनुभूति और स्मृति जय कल्पना के आनंद तक ले गए हैं, लेकिन इसे उनके काव्य चिंतन का विस्तार ही मानना उचित होगा क्योंकि उनकी मूल विज्ञान काव्यानुभूति और काव्यविधान से संबंधित रही है। 'रस' में नैतिकता सम्बंधी उनका आग्रह जहाँ प्रबल हुआ है वहाँ भी भाव की उदात्तता के आग नहीं गया है। यही कारण है कि नैतिक आग्रह के बावजूद शुक्लजी की रस दृष्टि नैतिक नहीं रही है।

आचार्य शुक्ल की साहित्याशसा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य-दृष्टि को समझने के लिए उनके घोषित सिद्धांतों का अनुशीलन पर्याप्त नहीं है। किन्तु भी साहित्य चिन्तक का मत जितना उसके सिद्धान्त प्रतिपादन से प्रकट होता है उतना ही उसकी साहित्यशासा से भी व्यक्त होता है। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी सामन आती है कि समीक्षक समीक्षा सिद्धांतों की आवश्यकता और महता को अमाय ठहराते हुए कृति विषय के आवलन की व्यक्तिमत्ता से ही अपना विश्वास व्यक्त करता है, फिर भी कृति-विशेष की वह उसकी आशासा में उसके समीक्षा सिद्धांत झलक जाते हैं। प्रोफसर पाल जिफन समीक्षा क मैदानिक आधार की आवश्यकता का निषेध करते हुए चित्रकार पूसिन के एक चित्र 'रिप ऑफ द सेबाइन वुमैन' की समीक्षा प्रस्तुत की और कहा कि इस चित्र के विषय में जा कहा गया है, वह केवल इसी चित्र के विषय में कहा जा सकता है, किसी और कृति के विषय में नहीं। मॉरिस मे डेनबाम ने प्रोफसर जिफ की उम टिप्पणी में से वे बातें छांट ली जो उमकी कला के मूल्यांकन से सम्बन्धित थीं। उन बातों के आधार पर उन्होंने जिफ क कला सिद्धान्त खान निकाले। इस प्रकार किसी घोषित समीक्षा दृष्टि के बिना भी गर्भित समीक्षा-दृष्टि का अस्तित्व हो सकता है। इससे जुड़ी हुई सचाई यह भी है कि घोषित समीक्षा सिद्धान्तों के माय माय गर्भित समीक्षा सिद्धांत भी हो सकते हैं। गर्भित समीक्षा सिद्धांत घोषित समीक्षा सिद्धांतों के अनुरूप भी हो सकते हैं और विशुद्ध भी। अनुरूप होने पर वे घोषित सिद्धांतों के प्रकट हो सकते हैं क्योंकि घोषित सिद्धांतों में जो बातें छूट गई हैं या जिन पर कम बल दिया गया है, वे गर्भित सिद्धांतों में उभर सकती हैं। प्रतिकूल होने पर वे समीक्षक की कथनी और करनी के विरोध को उजागर कर सकती हैं। आचार्य शुक्ल ने सिद्धान्त प्रतिपादन के अतिरिक्त जो साहित्य-समीक्षा की है, उसके अनुशीलन से ऐसी कुछ महत्वपूर्ण मन्चाइयाँ हमारे हाथ लग सकती हैं जो उनका सिद्धान्त प्रतिपादन में या तो उभरी नहीं हैं या दूसरे दूसरे बलों की अधिकता के कारण हमारे अवधान से चचित रह जाती हैं। इसलिए उनके सैद्धांतिक कथनों के अलावा उनकी साहित्याशसा में गर्भित सिद्धांतों को सामने रखकर ही उनकी साहित्य दृष्टि ठीक से समझी जा सकती है।

शुक्लजी न मलिक मोहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास के काव्य की विस्तृत समीक्षा की थी। इन समीक्षाओं में कवि की भावुकता, रचना के भागिक प्रसंगा, कवि की विचारधारा, चरित्र चित्रण और काव्यरूप विचार से लेकर रस, अलंकार, वाच्यदग्ध्य और भाषा तब का विचार किया गया है। कवि की लोकमुखता का विचार भी उन्होंने आवश्यकतानुसार किया है। उक्त कवियों की समीक्षाओं में इन पक्षों में से जहाँ जो पक्ष उन्हें विचारणीय प्रतीत हुआ है, वहीं वहाँ उठाया गया है, लेकिन हिन्दी साहित्य का इतिहास में उन्हें उन सभी कवियों और लेखकों के कृतित्व पर अपना अभिमत प्रकट करने का अवसर मिला है जो उनकी जानकारी में आ चुके थे। ध्यान देने की बात है कि विस्तृत समीक्षा के लिए उन्होंने जो तीन कवि चुने थे, वे तीनों भक्तिकाल के थे, जबकि 'इतिहास' में उन्होंने जादिकाल से छायावाद तक के कवियों और लेखकों के साहित्य की आशसा की है। स्पष्ट है कि 'इतिहास' में उनके सामने समीक्ष्य सामग्री अधिक वैविध्यपूर्ण रही है। इसलिए 'इतिहास' में उपलब्ध साहित्याशसा में उनकी साहित्य दृष्टि के अधिकाधिक पक्ष भी उभरीलित हुए हैं। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि 'इतिहास' में युग विशेष के साहित्य के समष्टिगत आकलन और एक-एक रचनाकार पर व्यक्तित्व जो विचार किया गया है, उससे यह बात बहुत साफ हो सकती है कि शुक्लजी ने साहित्य को किस सीमा तक जातीय अभिव्यक्ति और किस सीमा तक व्यक्ति-चलाकार के अपने पुरुषार्थ के रूप में देखा है तथा उनकी साहित्याशसा के इन दोनों स्तरों में कितनी अनुकूलता, प्रतिकूलता या नानाविधता है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा गया था हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में। इस इतिहास में शुक्लजी ने अपनी भाषिक परम्परा की खाज साहित्य के सदाभ में की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे एक ओर भाषिक परम्परा को साहित्यगत भाषिक उत्कृष्ट के जायामा में जोड़ते चले हैं तो दूसरी ओर साहित्य में व्यक्त सजातीयक अभिप्रेर्णाओं का लोकचित पर पड़ने वाले प्रभावों के साथ भी रखते रहे हैं। ऐसा करते समय साहित्य की साहित्यिकता का ध्यान उन्होंने सदा रखा है। सिद्धो जीर नाथ यागिया की रचनाओं की चर्चा करते समय उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आते।' फिर भी उन्होंने दो कारणों से इन रचनाओं की चर्चा की है। पहला कारण है भाषा। 'सिद्ध कण्ठपा की रचनाओं को यदि हम ध्यान पूर्वक देखें तो एक बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकमाली हिन्दी (कायभाषा) है, पर गीता की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी जीर' 'रमैनी की भाषा में पाते हैं। 'साखी की भाषा तो खड़ीबोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कडी'

भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी वाली भी है।"^१ दूसरी बात है भावों और विषय वस्तु की परम्परा की। वज्रयानी सिद्धों ने "बाह्य पूजा, जाति-पाति, तीर्यटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया, रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझान का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाडिया, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद', 'बिंदु', 'सुरति', 'निरति' ऐसे शब्दों की उद्धरण करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढंग पर नाथपण्डियों ने जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण सत सम्प्रदाय—वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफिया के प्रेमभाव तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिला कर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए रास्ते पर चल पड़ा।"^२ शुक्लजी के इन शब्दों से यह प्रकट होता है कि उन्होंने साहित्य की पूवपीठिका और साहित्यिक मूल्य वृत्ता में भेद किया है। साहित्य की पूवपीठिका के रूप में सिद्धों और नाथों की 'बानी' का सम्बन्ध भाषा तथा विषय वस्तु दोनों रूपों में जाग के निर्गुण सत सम्प्रदाय से मानते हुए भी शुक्लजी ने उनकी बानियाँ का साहित्यिक मूल्य अस्वीकार कर दिया है।

शुक्लजी की उपयुक्त टिप्पणी में यह निहित है कि साहित्य भाषिक रचना की एक परम्परा में विकसित होता है और उसमें विषय वस्तु भी रहती है, फिर भी जो चीज साहित्य की साहित्य बनाती है, वह न तो भाषिक रचना की परम्परा है, न विषय-वस्तु। इन दोनों दृष्टियों से हिंदी का सत साहित्य सिद्धों और नाथों की बानियाँ से सम्बन्धित है, फिर भी शुक्लजी ने सिद्धों और नाथों की बानियाँ का साहित्य मानने से इन्कार कर दिया है, जबकि कबीरादि सतों की बानियों के सम्बन्ध में उन्होंने ऐसी दो टक बात कही नहीं बही है। कबीर के काव्य की साहित्यिकता के विषय में सीधे कुछ न कह कर उन्होंने उनकी उत्तियाँ के 'विलक्षण प्रभाव' और 'चमत्कार' की बात बहते हुए उनकी प्रतिभा की प्रखरता स्वीकार की है। साथ ही उन्होंने कबीर की भाषा के परिष्कृत और परिमार्जित न होने की शिकायत भी की है।^३ इससे लगता है कि साहित्य का उत्कृष्ट वे भाषा प्रयोग की निपुणता और प्रतिभा के उन्मेष में मानते थे।

भाषिक रचना की परम्परा और रचनाकार विशेष द्वारा रचित वृत्ति में भाषिक उत्कृष्ट इन दोनों को शुक्लजी ने अलगगाया है। भाषिक रचना की एक ही

१ हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० २३

२ वही, पृ० २३ २४

३ "भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उत्तियाँ में वही-वही विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें सदेह नहीं।" —हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २२

परम्परा में रचनाकार-विशेष के वृत्तित्व में भाषिक उत्कृष्ट उसकी अपनी प्रतिभा के उभे पर निर्भर रहता है। पहली बात का सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से है तो दूसरी का साहित्य ममीभा से। हिन्दी साहित्य का इतिहास में घुमनजी की साहित्याशासा ने भाषा प्रयोग के इन दोनों पक्षों को अगीकार किया है। सिद्धा और नायो की भाषियों की साहित्यिकता को अमाय ठहराते हुए भी उनकी चर्चा का उन्होंने भाषिक परम्परा के नाते प्रासंगिक बतलाया है और इसी नाते वे साहित्यिक परम्पराओं की चर्चा करते समय हिन्दी की उपभाषाओं—ग्रज, अवधी, उड़ीसोनी—नया पूरबी और पच्छिमी भाषिक परम्पराओं की बात उठाते रहें हैं।

भाषिक परम्परा के साहित्यिक विकास का प्रश्न भाषा विशेष के साहित्य के गौरव बोध से भी जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शुक्लजीने तुलनादास को हिन्दी के गौरव के रूप में प्रस्तुत किया है 'यह एक कवि ही हिन्दी का एक प्रौढ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफी है।' भारतन्दु को भी उन्होंने हिन्दी के उद्धारकर्ता के रूप में देखा है। भारतन्दु न जिस प्रकार हिन्दी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार ब्रज भाषा का भी।^१ इसी सम्बन्ध से उन्होंने जयशंकर 'प्रसाद की भी प्रशंसा की है "संस्कृत की कामलवात पदावली का जैसा सुन्दर चयन बगभाषा के वाक्य में हुआ, वैसा जय देशभाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पद साहित्य की जो गूँज प्रमादजी के मन में समाई, वह बराबर बनी रही।"^२

प्रमाद के मामले में शुक्लजी ने साहित्य की भाषिक परम्परा में व्यक्ति रचनाकार की प्रतिभा का मूल्यांकन किया है। अपने 'इतिहास' में वे साहित्य की चर्चा के अन्तर्गत रचनाकारों की भाषिक क्षमता के सम्बन्ध से उनकी सजनात्मक प्रतिभा का मूल्यांकन बराबर करते चले हैं। सजन की ममीभा में माध्यम के प्रयोग की जनदेखी उन्होंने शायद ही कही की है। कोई-कई कवि तो अपनी भाषिक क्षमता के कारण ही उनकी दृष्टि में बहुत चढ़ गया है और किमी किमी कवि के भाषिक अनाचार ने उसे उनकी दृष्टि में लाछिन भी किया है। घनानन्द ने अपने भाषा सामर्थ्य के लिए शुक्लजी की प्रशंसा अर्जित की है। भाषा की पूव अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर उन्होंने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की है। घनानन्द उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यक्तता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रंग की व्यञ्जना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला दूसरा कवि नहीं हुआ।^३ विहारी भी अपने

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४२

२ वही, पृ० ५२६

३ वही पृ० ६४७

४ वही, पृ० ३२२

भाषिक अनुशासन के लिए गुक्लजी की प्रशसा अर्जित करने में सफल हुए हैं। शुक्लजी ने लिखा है कि विहारी की 'वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दा के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है।'^१ शब्दाडम्बररहित और चलती भाषा के लिए उन्होंने रसखान की प्रशसा की है।

दूसरी ओर भाषा का अगभग करन वाले कवियों के प्रति शुक्लजी का अननुमोदन भी बहुत साफ दिखलाई देता है। केशवदास की तीखी आलोचना उन्होंने उनकी हृदयहीनता को लेकर ही नहीं की है, अनगठ भाषा को लेकर भी शुक्लजी ने उन पर प्रहार किया है "भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए था, वह उन्हें प्राप्त नहीं था।"^२ केशव की भाषिक अभिमता के एक एक पक्ष को उठाते हुए उन्होंने लिखा है 'पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त, फालतू शब्दों के प्रयोग और मन्वघ के अभाव जादि के कारण भाषा भी अप्राजल और ऊबड़ खाउड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है।' केशव के वाक्य में शुक्लजी का असन्तोष बहुमुखी है, लेकिन भाषा नैपुण्य का अभाव पाकर वे भ्रूषण और देव के वाक्य से भी सन्तुष्ट नहीं हुए हैं। इन कवियों की भाषा पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है "भ्रूषण और देव ने शब्दों का बहुत अगभग किया है और वही-वही गठत शब्दा का व्यवहार किया है।"^४

दो कवियों की तुलना करने के समय भी गुक्लजी ने भाषा को उनके रचना-सामर्थ्य के मूल्यांकन का एक प्रतिमान बनाया है। सूर और जायसी की तुलना में तुलसी को बड़ा कवि सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो तर्क दिए हैं उनमें भाषा की दृष्टि से तुलसीदास का अधिक समय जाना सम्मिलित है। उनका कहना है कि तुलसीदास का 'ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतानली और कृष्णगीतानली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठाई हम जायसी की पदमावली में मिलती है वही जानकीमंगल, पावतीमंगल बरब रामायण और रामलला नहछू में हम पाते हैं। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था, न जायसी का ब्रज भाषा पर।'^५ शुक्लजी को इतने से सन्तोष नहीं हुआ है। उन्हें सजनात्मक दृष्टि से भी तुलसीदास की भाषा सूरदास की भाषा की तुलना में अधिक उत्कृष्ट प्रतीत हुई

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २८१

२ वही, पृ० २०१

३ वही, पृ० २०१

४ वही, पृ० २४१

५ वही, पृ० १३०

है। उनके मतानुसार 'सूरदास की रचना में कोमलकांत पदावली और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामी जी की रचना में है।'^१

किसी कवि की प्रशंसा शुक्लजी ने जिन बातों के लिए की है उनमें शिल्प पर अधिकार भी है। सत साहित्य की पूर्वपीठिका के निर्माण की दृष्टि से सिद्धों और नाथों की वानियों की चर्चा को प्रासंगिक मानते हुए भी शुक्लजी ने उन्हें शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं रखा और कवीर जस सत कवि की प्रतिभा की दाद देते हुए भी उनके कृतित्व की साहित्यिकता पर वे चुप लगा गए, लेकिन सुन्दरदास के विषय में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा 'इनकी रचना साहित्यिक और सरस है।'^२ ऐसा मानने के लिए उन्होंने जो आधार लिया है उसका सम्बन्ध शिल्प पर उनके अधिकार से है। उनके सुन्दरविलास में कवित्त सर्वैयो में यमक, अनुप्रास और अर्थालंकारों की योजना देखकर वे सतुष्ट हुए हैं।^३ सुन्दरदास के विषय में उन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि "निर्गुणपथियों में ये ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें भूमिगत शिक्षा मिली थी और जो काव्य कला की रीति आदि से परिचित थे।"^४ अथ सत कवियों की तुलना में सुन्दरदास में शुक्लजी को दो विशेषताएँ दिखाई दी हैं (१) "अथ सतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान कवित्त और सर्वैये रचे हैं,"^५ (२) इनकी रचना काव्य पद्धति के अनुसार होने के कारण और सतों की रचना सभिन दिखाई पड़ती है।^६ सुन्दरदास के विषय में शुक्लजी ने जो यद्विष्णुवर्णियों की है, उनमें यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी के कृतित्व को साहित्यिक मानने के लिए वे उनसे क्या अपेक्षा करते थे।

अथ अनन्त वाता के लिए नेशवदास का बखिया उधेड़ते हुए भी जब वे उनके सवाद रचना-कौशल की प्रशंसा करते हैं तो लगता है कि शुक्लजी को उनकी थोड़ी बहुत प्रशंसा का आधार काव्यशिल्प में ही मिला है।

तुलसीदास की प्रशंसा शुक्लजी ने जिन बातों के लिए की है उनमें उनकी रचनाओं का शरीरगत वैविध्य भी सम्मिलित है। हिन्दी साहित्य का इतिहास में शुक्लजी ने लगभग चार पृष्ठों में यही प्रतिपादित किया है। इस शैली वैविध्य को उन्होंने 'सर्वांगपूर्ण काव्यकुशलता' कहा है।^७

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १३१

२ वही, पृ० ८८

३ वही, पृ० ८९

४ वही, पृ० ८८

५ वही, पृ० ८८

६ वही, पृ० ८९

७ वही, पृ० १४१

फिर भी यह बात समझ रखनी चाहिए कि शुक्लजी ने शिल्प को एक सीमा के आगे महत्त्व नहीं दिया है। शिल्प के नाम पर चमत्कार प्रदर्शन या शब्दा का खिलवाड़ उन्हें कतई पसंद नहीं था। कोरी शिल्पगत निपुणता या कारीगरी उन्हें कोई बड़ी उपलब्धि नहीं जान पड़ती थी। बिहारी के काव्य शिल्प से वे प्रभावित थे, फिर भी बिहारी की उपलब्धि उन्हें बहुत नहीं जैची थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है "बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है, उसे अधिकतर रचना की वारीकी या काव्यांगो के सूक्ष्म वि्यास की निपुणता की आर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष में समझना चाहिए जो किसी हाथीदाँत के टुकड़े पर महीन पेलबूटे देख घटो वाह वाह किया करते हैं।" ^१ शिल्प के प्रति अवधान के अतिरेक का प्रतिवाद शुक्लजी ने प्रायः सर्वत्र किया है। छायावादी काव्य शिल्प की रमणीयता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसने कमजोर पहलू की ओर ध्यान आकर्षित किया है। पतञ्जली के काव्य का उदाहरण सामने रखकर उन्होंने छायावादी काव्य शिल्प के विषय में लिखा है 'पतञ्जली की 'छाया', 'वीचि विलास', 'नभत्र' आदि में यहाँ से वहाँ तक उपमानो का ढेर-मा लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यन्त सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यञ्जक हैं और बहुत से रंग विरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद या 'अभियोजनावाद' के उदाहरण में लगती हैं जिसके अनुसार कवि-कल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है।" ^२ वस्तुपक्ष की क्षीणता के साथ शिल्प की समृद्धि के पक्ष में वे कतई नहीं थे, यह बात छायावादी काव्य शिल्प के विषय में उनकी इस टिप्पणी में झलकती है 'कुछ कवियों में वस्तु का आधार अत्यन्त अल्प रहता है, विशेष लक्ष्य अभियोजना के अधिक विस्तार पर रहा है। इससे उनकी रचनाओं का एक बड़ा भाग अधर में ठहराया सा जान पड़ता है।' ^३ छायावाद के अभ्युदय के लिए शुक्लजी ने जो रास्ता सुझाया है, उसमें भी उनका ध्यान उसके शिल्प पक्ष पर रहा है "उसे अपनी चपलता और भावभंगिमा का प्रदर्शन नीडा बौतुक की प्रवृत्ति कुछ समय करनी पड़ेगी। इन ऊँचे नीचे ममपथ पर चित्रा का बहुत अधिक फालतू बोझ तादकर चलना भी घाणी के लिए उपयुक्त न होगा।" ^४

इसमें यह धारणा मिट जानी चाहिए कि शुक्लजी की साहित्याशसा में शिल्प का कोई स्थान नहीं था। यदि उनकी दृष्टि में शिल्प का कोई मूल्य न होता तो वे चित्रों के 'बहुत अधिक फालतू बोझ' की चिन्ता ही न करते। बिहारी की कारीगरी पर मुग्ध

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४२

२ वही, पृ० ६४४

३ वही, पृ० ६४४

४ वही, पृ० ६६५

होने को नाव्य ममगता का परिचायक न मानते हुए भी वे उनकी कल्पना की समाहार गति के साथ भाषा की ममता गति पर रीझे हैं। दूररी और अपने अत्यंत प्रिय कवि तुलसीदास की रचना में भी उन्हें जहाँ शिल्पगत दुबलता दिसलाई थी है, वहाँ उन्होंने उसे उघाटा है। उनके लम्बे लम्बे साग रूपका के विषय में उन्होंने लिखा है “कही-कही लम्बे लम्बे साग रूपक बाँधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परम्परा का अनुसरण किया है।”^१

ऐसा लगता है कि गुकनजी ने शिल्प का महत्व आनुपंगिक रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में गित्प का उत्पन्न काव्य के लिए आवश्यक है लेकिन शिल्प अपने-आप में महत्वपूर्ण नहीं है। कथ्य या जन्तवस्तु के महिमामय होने के साथ शिल्प भी ममुन्नत होना चाहिए। कथ्य या जन्तवस्तु महिमामय होने पर भी यदि शिल्प अपरिपक्व हो, तो गुकनजी उसकी अनदेखी नहीं करते। उसकी उपेक्षा करके काव्य की प्रशंसा वे कभी नहीं करते।

गुकनजी ने शिल्प के विचार का कानना से विचार में अलग रखा है। अपने साहित्य चिन्तन में कला की कल्पना की निराली दुनिया के रूप में स्वीकार न करते हुए भी गुकनजी न कभी प्रच्छन्न रूप में तो नभी खुले रूप में साहित्य में कल्पना को महत्वपूर्ण माना है। अपनी समीक्षा में जब वे किसी कवि के विविध्यपूर्ण जीवा बाध या जीवन के विविधपक्षीय माशात्कार की प्रशंसा करते हैं, तो वह प्रकारांतर से कवि की सजनात्मक कल्पना का विस्तार की प्रशंसा होती है। तुलसीदास को बड़ा कवि मानने के पक्ष में उनका एक तर्क यह रहा है कि तुलसीदास की “वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है।”^२ जिस गुकनजी ने तुलसीदास की वाणी की पहुँच कहा है, वह वस्तुतः उनकी कल्पना की माशात्कार श्रमता का ही दूसरा नाम है। सूरदास को भी उन्होंने इस धारणा का श्रेय दिया है कि “जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया है, उसका कोई कोना अछूता न छटा।”^३ इस प्रसंग में ‘वाणी का संचरण कल्पना का ही संचरण है। यद्यपि गुकनजी ने कल्पना का प्रसार जसी गदावली का प्रयोग नहीं किया है, फिर भी रचना के क्षेत्र का फलाव जब वे बतलाते हैं तो उनका आशय यही होता है। केशव के काव्य पर उन्होंने जो प्रहार किया है उसमें उनकी कल्पना का क्षेत्र सङ्कुचित होना का आक्षेप भी सम्मिलित है “जीवन का नामा और माभिक पक्षा पर उनकी दृष्टि न थी।”^४

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४१

२ वही पृ० १३४

३ वही पृ० १६४

४ वही, पृ० २०२

कल्पना के प्रसार को शुक्लजी ने जो महत्व दिया है, उसके पीछे उनकी यह मायता रही है कि साहित्य की साधकता जीवन के प्रतिनिधान में निहित है। उनकी यह विचार दृष्टि उनकी साहित्याशय में अनेक रूपा में नदतिर चेतना में बनी है। उसकी एक परिणति कल्पना के प्रसार को महत्व देने में हुई है, दूसरी मार्मिक प्रसगा के चमन में, तीसरी परिणति परिस्थितियों के सागोपाग उपस्थापन में हुई है और चौथी प्रबधकाव्य की मुक्तक काव्य पर वरीयता देने में। मथुरा से गातुल की निकटता उन्हें गोपियों की विरह भावना की स्वाभाविकता के विरुद्ध इंगीनिष् प्रतीन हुई कि वे मुक्तक काव्य में भी प्रबधकाव्य के समान जीवन की परिस्थितियों के प्रति जायस्कता की अपेक्षा करते थे। प्रबधकाव्य में कल्पना के विस्तार की उनकी आकाशा तुष्ट हाती थी। इसीलिए उन्होंने लिखा 'यदि प्रबधकाव्य एक विस्तृत वनम्यनी है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।'^१ साहित्य में प्रतिनिधान को महत्व देने के कारण ही उन्होंने साहित्य सृष्टि की स्वायत्तता का कभी श्वीकार नहीं किया और नूतन मण्डि के निर्माण वाली कल्पना का विरोध वे अत तक करते रहे।

फिर भी शुक्लजी ने अपनी साहित्याशय में उद्भावना का मूल्य कम नहीं किया है। तुलसीदास की तुलना में उन्हें मूरदास में यह वैशिष्ट्य दिखलाई दिया है कि नवीन प्रसगा की उद्भावना मूर के काय की अपनी विदोपता है जो तुलसीदास के काव्य में नहीं मिलती। उन्होंने इस विषय में लिखा है 'मूर की बड़ी भारी विदोपता है नवीन प्रसगा की उद्भावना। प्रसगोद्भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते।'^२ तुलसीदास की सजनात्मक प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की रही है। उन्हें शुक्लजी ने इन शब्दों में आका है "उसकी कल्पना वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में प्रवृत्त होती थी, नई वस्तुस्थिति खड़ी करने नहीं जाती थी।"^३ इन टिप्पणियों में यह देखा जा सकता है कि शुक्लजी ने नूतन प्रसगों की उद्भावना और वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उनके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में अंतर किया है, लेकिन दूसरी स्थिति में भी कवि की कल्पना के योगदान का रेखांकित किया है। इस प्रकार उन्होंने सजन से कल्पना के सम्बन्ध का मायता दी है। कल्पना की यह भूमिका नूतन निर्माण से इस अर्थ में अलग है कि 'नूतन निर्माण की बात उन्होंने सदा जीवन विच्छिन्न और प्रतिनिधान निरूपण रूप में ही ली है। इसीलिए कल्पना की उद्भावना और उद्घाटन को उन्होंने कल्पना की उडान से सदा अलग रखा है।

प्रतिनिधानमूलक साहित्य दृष्टि जीवन से सरोमार रखने के कारण लोकचित्ता और लोकमगल की ओर उमुख हो, यह बहुत स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य का

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३९

२ वही, पृ० १६४

३ वही, पृ० १४०

इतिहास में यह बात दो रूपों में दिखलाई देती है (१) नामानुसंग में कवि विरोध की उत्क्रियता की प्रतिप्रिया के रूप में और (२) नोरमानन के विधान के रूप में। पहली बात कबीर और तुलसी सम्बन्धी गभीरताओं में देखने से मिनती है जबकि दूसरी बात तुलसीदास सम्बन्धी गभीरता में ही उपलब्ध है। गुवलजी का विचार है कि मिट्टा और नाथो का अनुसरण करने वाले कबीर की जटपटी और मूढ़ उत्क्रियों के वैरिण्य में नोरमानन आतंकित था^१ और तुलसीदास ने उगड़म जात में मुक्त करने का प्रयत्न किया।^२

गुप्तजी ने निगुणपरिया पर नामधर्म की उपाय का जो आराधन किया है^३ उसमें आज बहुत कम नाम मानेंगे फिर भी उनकी इस टिप्पणी में जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह कि उन्होंने निगुणपरिया और तुलसीदास के नामों को नोरमानन के सम्बन्ध से देखा है। उनकी रचनाओं में मृत्यान्तन को इस सम्बन्ध की चेतना में प्रभावित किया है लेकिन इस तथ्य की चर्चा करने समय यह भी याद रखना होगा कि 'इतिहास में इतने गारे लेखकों में बहुत कम के प्रसंग में गुप्तजी ने नोर की बात उठाई है। उगता है कि गुवलजी नोरममक्ति को वाच्योत्तर्य का उत्तरग अंग नहीं मानते थे। इतना ही नहीं, नोर चेतना में जहाँ नदतिक बोध के विरुद्ध जाकर वाच्य में उपदेशात्मकता का रूप ले लिया है वहाँ गुवलजी ने अपन प्रिय में प्रिय कवि को भी शामिल नहीं किया है। उपदेशात्मकता को लक्ष्य कर उन्होंने तुलसीदास के विषय में लिखा है "रामचरित मानस में तुलसीदास केवल कवि के रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी गाने आते हैं। उपदेश उन्होंने किसी न किसी पात्र के मुख से कराए हैं, हमारे काय दृष्टि में यह कहा जा सकता है कि वे उपदेश पात्र के स्तम्भ चित्रण के साधन रूप हैं। पर बात ऐसी नहीं है। वे उपदेश के लिए ही हैं।"^४

जिन कवियों के विषय में गुप्तजी ने अपनी अप्रमत्तता व्यक्त की है, उनमें उन्हें प्रायः वाच्यगुण का अभाव दिखलाई दिया है। जीवन बोध का प्रश्न उन्होंने बहुत कम कवियों के प्रसंग में उठाया है। प्रखर जीवन बोध का लोचनेता कवि गुवलजी की दृष्टि में चढ़ गया है लेकिन इस गुण से रहित कवियों पर वे खीझे नहीं है।

यदि यह देखना हो कि किस प्रकार की वाच्य रचना में गुवलजी के मन में असंतोष पैदा किया है तो 'इतिहास में इस प्रकार की टिप्पणियाँ उस वाच्य के सम्बन्ध में मिलेंगी जिसमें या तो भावुकता की कमी है या जिसकी भावभूमि संकुचित है या जहाँ काव्य के शिल्प सौन्दर्य को इस सीमा तक महत्त्व दिया गया है कि वह सजावटी

१ हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २२६ और ७९

२ वही, पृ० १३५ से १३७

३ वही, पृ० १३५

४ वही, पृ० १४०

वस्तु बन गया है या जहाँ कल्पना शक्ति क्षीण रही है। पहले प्रकार का असतोप उन्हें निवेश के सम्बन्ध में यह कहने हुए व्यक्त किया है 'वेशन को बहिर्हृदय नहीं मिला है।'^१ दूसरे प्रकार की शिकायत उन्हें 'छायावाद के सम्बन्ध में की है। छायावाद की समुचित भावभूमि की शिकायत करते हुए उन्होंने लिखा "उसका प्रधान लक्ष्य काव्य शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं। अधभूमि या वस्तुभूमि का ता उसने भीतर बहुत सकोच हो गया। गमकित विनाश भावनाओं को लेकर चलन की ओर ध्यान न रहा।^२ तीसरे प्रकार की अप्रसन्नता भी उन्होंने छायावाद व प्रति प्रवृत्त की है और उससे साथ अभिव्यजनावाद को भी जोड़ दिया है 'इन दोनों वादों के अनुसार काव्य का लक्ष्य उमी प्रकार मौदय की सृष्टि या योजना हो गया जिस प्रकार बेलबूटे या नक्काशी का।^३ छायावाद के सम्बन्ध में लिए गए इस आक्षेप के साथ अभिव्यजनावाद को जोड़ देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी की यह नाराजगी मुख्यतः उस काव्य दृष्टान्त के प्रति है जो उन्हें छायावाद में जुड़ा प्रतीत हुआ है। इस विचार की पुष्टि इस बात में भी होती है कि शुक्लजी ने जो स्थाना पर छायावादी काव्य गिल्प की गमणीयता की प्रशंसा की है और उसे द्विवेदी युगीन कविता की नीरसता के विरुद्ध काव्य गिल्प के उत्पन्न की आकांक्षा में प्रेरित बतलाया कहा है "द्वितीय उत्थान में काव्य की नूतन परम्परा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदीजी के प्रभाव से एक ओर उमम भाषा की मफाद आई दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रुखा, इतिवत्तारमक और अधिकतर बाह्याय-निरूपक हो गया — अतः खड़ीबोली की कविता में पदसालित्य, कल्पना की उडान, भाव की वेगवती व्यजना वेदना की विवृति, शब्द प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने की आकांक्षा बढ़ती गई। कुछ अंग्रेजी ढरों लिए हुए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (लिरिक्स) बँगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विश्व खल वस्तुविश्वास और अनुभूति क्षीणता के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यञ्जक नापा में इनकी मए ढग की रचनाएँ सवत १९७०-७१ से ही निकलने लगी थी।'^४ काव्य के सम्बन्ध में इस विचार दृष्टि के फलस्वरूप शुक्लजी ने द्विवेदी-कालीन कविता के विषय में जो असतोप प्रकट किया है उसका सम्बन्ध असतोप के उपयुक्त चार प्रकारों में से अन्तिम से है "द्वितीय उत्थान की कविता में काव्य का स्वरूप खडा करने वाली दोनों बातों की कभी दिखलाई पड़ती थी—कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का रंग भी अल्पकालीन व्यञ्जित होता था।"

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २०५

२ वही, पृ० ६१७।

३ वही, पृ० ६२३

४ वही, पृ० ६१७-१८

५ वही, पृ० ६१७

भाव और कल्पना दोनों को समन्वित रूप में भी शुक्लजी ने कुछ कवियों की समीक्षा के लिए काम में लिया है। मूरदास की कविता में वाग्वैदग्ध्य की उहोने जो खोज की है उसमें वाणी की विदग्धता उक्ति चमत्कार से सबथा भिन्न प्रकार की वस्तु रही है। इसका कारण यही है कि वाणी की विदग्धता में भाव को भगिमा महत्वपूर्ण रहती है जिसे कवि की कल्पना वक्र गति प्रदान करती है। पद्याकर के प्रसंग में शुक्लजी ने काव्य में भावाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कल्पना का महत्व स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है 'इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभावपूर्ण मूर्तिविधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसी सजीव मूर्तिविधान करने वाली कल्पना बिहारी का छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना कविना भावुकता कुछ नहीं कर सकती, या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के माध्यम जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विपणित हो सकती है।'^१

पद्याकर के काव्य के सम्बन्ध में शुक्लजी की यह टिप्पणी काव्य के सम्बन्ध में उनके नदतिक अभिगम की सूचक है। हिन्दी साहित्य का इतिहास में उहोने बड़े पैमाने पर जो साहित्य समीक्षा की है उसमें विभिन्न रचनाकारों के सद्भाव में भाषा, शिल्प, भावुकता कल्पनाशीलता जीवनी-मुखता आदि का विचार उहोने किया है लेकिन सबमें यह ध्यान रखा है कि वे जिस वस्तु की समीक्षा कर रहे हैं वह माहित्य है जीवन नहीं। साहित्य को जीवन सदाभित मानकर उसकी समीक्षा करना एक बात है और साहित्य के बहाने जीवन की ही समीक्षा करना दूसरी। आज के अनन्य समीक्षक इस विपर्याय से ग्रस्त हैं। वे माहित्य के नाम पर जीवन सद्भावों में ही उलझे रह जाते हैं। शुक्लजी ने इतने बड़े पैमाने पर माहित्य समीक्षा करते हुए भी अपनी साहित्याशंसा को इन विपर्याय से मुक्त रखा है। हिन्दी समीक्षा को यदि भटकाव से मुक्त रहना है तो उसे शुक्लजी के बनाव रास्ते पर चलना होगा।

अध्याय १

समीक्षा-पथ

हिन्दी समीक्षा के आधुनिक रूप का सूत्रपात गद्य महित्य की अद्य विधाओं की भाँति भारते-दु-बाल में हो गया था जिमरा त्रिकाम द्विवेदी युग में देखा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक आलोचना में गाम्भीर्य और दृढ़ता आने का प्रश्न है, इसका श्रेय मुख्य रूप में आचार्य रामचन्द्र गुप्त को मिलना चाहिए। गुप्त पूर्व हिन्दी समीक्षा का स्वरूप बहुत सीमा तक अनिश्चित था। उमम मौनिक चिन्तन, अध्ययन की व्यापकता और अनुभूति की तीव्रता का अभाव था। गुप्तजी न भारतीय काव्यशास्त्र को नवीन, मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की तथा मसूत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य जालोचनाशास्त्र का गहन अध्ययन कर अनक नवीन मायताओं की प्रस्थापना की जो सँझातक और व्यावहारिक हिन्दी जालोचना के लिए मागदशक मिद्ध हुइ।

गुप्तजी न अपने व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन, अपनी अनोखी सूझबूझ तल स्पर्शी दृष्टि और मौलिक चिन्तन शक्ति के बल पर हिन्दी समीक्षा को एक ठोम धरातल प्रदान किया। समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य गुप्त की सँझातक एवं विनियोगात्मक उपलब्धियाँ का प्रतिफल उनके समीक्षक-यक्तिव की पराकाष्ठा तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत उनकी देन इस दृष्टि में और भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उन्होंने समीक्षा का जो राजपथ निर्मित किया उम पर चलने की सुविधा से प्रेरित होकर हिन्दी में समीक्षा की एक बड़ी सख्या साहित्य यात्रा के लिए निबल पडी। गुप्तजी हिन्दी-समीक्षा के एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जिनमें प्रकाश लेकर अनन महारथियों ने अपनी समीक्षा यात्राओं की दिशा निर्धारित की है।

व्यापक परिप्रेक्ष्य— गुप्त समीक्षा की यह विशेषता रही है कि उमम साहित्य के जग प्रत्यग का अनुशीलन व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। यँधी बगई परम्परा की रूपमण्डकता गुप्तजी की स्वीकार्य नहीं थी। गुप्तजी का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उ होने ससूत की अत्यन्त सम्पन्न काव्यशास्त्रीय परम्परा के साथ ही पाश्चात्य समीक्षा की उबर परम्परा से प्रकाश प्राप्त विद्या और ससूत के काव्य बभय को दृष्टिपथ में रखने के साथ ही माय आगत साहित्य की उच्चकोटि की वृत्तियों को अपने ध्यान में रखकर समीक्षा मान तथा साहित्यिक आदग निर्धारित किये।

पाश्चात्य ममीशवा म आई० ए० रिचर्ड्स, एवर श्राम्बे प्रभृति विद्वाना के विचारो स गुवलजी के समीक्षा मिद्धात बहुत निरट हैं। रिचर्ड म महोदय न जिस प्रकार साहित्य और जीवन मे अविच्छेद्य सम्बन्ध^१ स्वीकार कर मूल्यवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, गुवलजी न भी ऐसी ही बात अनव स्याना पर नहीं है—“वकिता का अतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पथा का प्रत्यक्षीकरण करके उनके माय मानव हृदय का मामञ्जस्य स्थापन है।”^२ गुवलजी न अपनी समीक्षा मे निगमनात्मक (Inductive) पद्धति अपनाई है जिमम आलोचना के मान, जातोच्य कृति का आधार पर प्रस्थापित किये जाते है। रिचर्ड्स के विचार भी देखिए कितना जद्भुत साम्त रखते हैं—“When ever we attempt to Judge poetry from outside by technical details we are putting means before ends and—such is our ignorance of cause and effect in poetry we shall be lucky if we donot make even worse blunders”

एवर श्राम्बे जीर गुवलजी के प्रेषणीयता सम्बन्धी विचारो म अनोखा सादृश्य अवलोकनीय है। गुवलजी न जहाँ—“एक सहृदय की अनुभूति को दूसरे सहृदय तक पहुँचाना” काय या कला का लक्ष्य माना है^३ वहाँ एवर श्राम्बे ने भी काय के लिए प्रेषणीयता को अनिवाय तत्त्व माना है, जिसके बिना साहित्य साहित्य नहीं होना।^४ केवल सादृश्य की दृष्टि मे ही नहीं, प्रतिश्रिया रूप म भी गुवलजी की विचारधारा का सम्बन्ध पाश्चात्य विचारका मे दिखलाई देता है। श्रोत्रे और श्रोत्रे के मतों से वे कभी पूणत सहमत नहीं हुए। श्रोत्रे के कलावाद को लेकर गुवलजी द्वारा लिखा हुआ यह अश इम दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण है—“उपयुक्त वाद बेलजूटो और नक्वाणियो के सम्बन्ध म

1 There is no such gulf between poetry and life as overliterary persons sometimes suppose There is no gap between our every day emotional life & the material of poetry The verbal expression of this life at its finest is forced to use technique of poetry that is the only essential difference —I A Richards Practical Criticism p 319

2 रसमीमामा पृ० २६

3 Practical Criticism p 17

4 वाक्य मे रहस्यावाद—लेखक आचार्य गुवल, पृ० १०६

5 Whatever else literature may be communication it must be No communication no literature We must always remember that language is only the medium of the art The art consists in the communication establish between author and reader (or of course hearer) —Principles of Literary Criticism p 24

तो विलुप्त ठीक घटना है, पर काव्य की मज्जी मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा, उसके निकट काव्य का महदयता, भावुकता और मार्मिकता में कोई सम्बन्ध नहीं।^१ “ मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र से जिला जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा है।^२

इधर श्रोत्रियों के अभिव्यजनावाद को ‘वितण्डावाद’^३ कहकर गुकलजी ने ‘मुन्दर’ शब्द को ‘रमणीय’ शब्द से हीनतर बताया है और कहा है— ‘यह ‘मुन्दर’ शब्द काव्यानुभूति के सौन्दर्य को मनुचिन्तित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण ‘सौन्दर्यानुभूति’ के रूप में नहीं होना। श्रोत्रियों या अपने यहाँ के—चमत्कारवादी और वनोत्थिवादी के अनुसार, यदि हम अभिव्यजना या कल्पना की उड़ान को ही सब कुछ मानें तो भी ‘मुन्दर’ शब्द बिना स्वीचतान के मन्त्र काम नहीं देता।^४

वस्तुतः गुकलजी को पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित हो रहे नये नये वादों से चिन्तित थी और जब उन्होंने ऐसा कि उही वादों का अध्यानुकरण हिन्दी साहित्य में भी बगना के माध्यम में जोर पकड़ रहा है तो उन्होंने स्पष्ट वादों में कहा—“आजकल पाश्चात्य वादवशात् के बहुत में पत्ते कुछ हर नुचे हुए कुछ सूखकर गिरे पाये हुए—यहाँ पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित विय जाने लग है जिनमें साहित्य के उपवन में बहुत गडबडी दिखाई देना नगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके ये पत्ते ह।^५

गुकलजी की समीक्षा में इस व्यापक पृष्ठभूमि का प्रभाव अनेक रूपों में देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उनके समीक्षा सिद्धान्तों के जगतगत भारतीय रम मिद्धान्त के साथ पाश्चात्य कल्पना सिद्धान्त का सम्बन्ध उल्लेखनीय है, क्योंकि इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप गुकलजी ने भारतीय काव्य चिन्तन के मेरुदण्ड को नतन गति प्रदान की है।

रसोद्देश के कल्पना का योग—गुकलजी ही प्रथम जाचाय हैं जिन्होंने रसोद्देश के कल्पना तत्त्व के महत्त्व के स्वीकार किया। सञ्चित जाचार्यों ने रस के अवयवों का उल्लेख करते हुए भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का उल्लेख तो किया, किन्तु उसके मूल में अतिरिक्त रसास्वाद की गत्यात्मक (Dynamic) प्रक्रिया को वे स्पष्ट नहीं कर सके। गुकलजी ने पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों में गृहीत कल्पना शक्ति के

१ चिन्तामणि—भाग दूसरा, पृ० १७०

२ वही, पृ० १८०

३ वही, पृ० १७९

४ वही, पृ० १७८

५ वही, पृ० १६५

प्रकाश में उस प्रक्रिया को अधिक विस्तृत रूप में व्याख्यायित किया। यस्तुत कल्पना ही वह आधारभूमि है जो रम के विभिन्न अवयवों का एक गत्यात्मक प्रक्रिया में अंतर्भाव करती है। शुक्लजी ने इस विश्लेषण में कल्पना को उचित भाव देते हुए कहा—“सारा रूपविधान कल्पना ही करती है। अतः अनुभाव कह जाने वाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा जाश्रय को जो रूप दिया जाता है, वह भी कल्पना ही (वे) द्वारा। पर भावों की द्योतक शारीरिक व्यापार या चेष्टाएँ परिमित होती हैं, वे रुद्ध या बँधी हुई होती हैं। उनमें नयेपन की गुणाद्देश नहीं, पर जाश्रय के वचनों की अनेकरूपता की कोई सीमा नहीं। इन वचनों की भी कवि द्वारा कल्पना ही की जाती है।”^१

शुक्लजी ने कवि और भावक दोनों के लिए कल्पना शक्ति को अनिवार्य माना। एक मज्जित प्रक्रिया में कल्पना का सहायक लेता है तो दूसरा भावना प्रक्रिया में। कल्पना को इतना महत्त्व देना पर भी शुक्लजी पाश्चात्य समीक्षकों की भाँति कल्पित रूपविधान को ही काय का मूल लक्षण स्वीकार नहीं करते, बल्कि वे तो उसी कल्पना को साथक मानते हैं ‘जो श्रोता या पाठक के मन में कोई भाव जगाने में समर्थ हो।’^२ शुक्लजी की यह विचारणा कि ‘रमोद्भव’ में कवि की विधायक कल्पना शक्ति तो काय करती ही है साथ ही रसास्वादन के लिए पाठक की ग्राहक कल्पना शक्ति का भी समृद्ध होना परमावश्यक है, उनके व्यापक चिंतन का ही परिणाम कही जा सकती है। शुक्लजी ने ग्राहक कल्पना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके अभाव में कायास्वादन की सम्भावना समाप्त हो जाती है—‘जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़ा सुनाकर उनके हृदय में मार्मिकता होने हुए भी बँसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्तिविधान नहीं होता, जो भावों को परिचालित कर देता है।’^३

सौंदर्य विषयक विचारणा—इसी प्रकार उनकी सौंदर्य विषयक विचारणा भी व्यापक परिप्रेक्ष्य को लेकर चली है। इन्होंने वस्तुओं के बाह्य स्वरूप को ही सौंदर्य की श्रेणी में नहीं रखा बरन मनोवृत्ति और कम सौंदर्य को भी सौंदर्य के क्षेत्र में समाहित किया और स्थापना दी कि—‘कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के स्वरूप में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कम में।’^४ उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—‘कविता केवल वस्तुओं के ही स्वरूप में सौंदर्य की

१ रस मीमांसा पृ० २७२

२ वही, पृ० ३०३

३ चिन्तामणि—भाग पहला, पृ० १६१

४ रस मीमांसा, पृ० ३३

छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कम और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल रमणीय के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता, वीरता त्याग, दया, प्रेमोत्कण्ठ इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जमाती है।^१

शुक्लजी ने सौन्दर्य के भीतरी और बाहरी भेदों को निराधार बताकर सौन्दर्य के क्षेत्र की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की जिसे निःसन्देह उनके व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक कहा जा सकता है। आचार्य ने सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार नहीं की और इनके अनुसार तो यूरोपीय कला समीक्षा का यह वहना कि—‘सौन्दर्य बाहर की वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है—भाषा के गडबडझाल के सिवा और कुछ नहीं है।’^२ सच्चे कवियों की सौन्दर्य भावना को लेकर लिखा गया यह अंश इस दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण है—‘सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढा करते। वे फग के थोपड़ा, धल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चा के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए बुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियाँ में भी कभी कभी ऐसे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया महला और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।’^३

काव्य विषय की व्यापकता—काव्य के वण्य विषय को लेकर शुक्लजी ने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है और इस व्यापक दृष्टि की पृष्ठभूमि में उनका व्यापक अध्ययन रहा है। अग्नेजी और सत्त्व की श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से प्रभावित होकर उन्होंने सम्पूर्ण दृश्य जगत और उससे नाना तत्त्वों को काव्य विषय के रूप में स्वीकार किया है चाहे वह मनुष्य जीवन से सम्बंधित हो, चाहे मनुष्येतर जगत से। समस्त चराचर को काव्य विषय स्वीकार कर पंडितजी ने वण्य विषय सत्ता को दूर किया है। प्रकृति को मात्र उद्दीपन मानना शुक्लजी की स्वीकार्य नहीं, इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—“जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रचि भ्रष्ट हो गई है और सत्कार सापेक्ष है।”^४

जादिकवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बड् सवध और शैली प्रभृति कवियों के सुन्दर और मार्मिक प्रकृति चित्रण से शुक्लजी अत्यधिक प्रभावित हुए। इसी के परिणामस्वरूप उन्होंने प्रकृति को आलम्बन रूप में स्वीकार कर साहित्यकारों को चराचर जगत के सौन्दर्य की आरंभ प्रेरित किया। आचार्य शुक्लजी ने सम्पूर्ण विश्व को एक

१ चिन्तामणि भाग पहला, पृ० १६६

२ रस भीमासा, पृ० २९

३ वही, पृ० ५३-५४

४ वही, पृ० १११

काव्य की राजा दत्ते हुए कहा—' इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न हुआ, उसके जीवन को महसूस की यात्रा समझना चाहिए।''^१ अपन काव्य का प्रयोजन, विषय विस्तार को ध्यान में रखते हुए बाह्य प्रकृति के साथ अंत प्रकृति का सामंजस्य और भावात्मक सत्ता के प्रसार, का ही माना है।^२

शुक्लजी के इस व्यापक परिप्रेक्ष्य का उनकी सैद्धांतिक समीक्षा में ही नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक समीक्षा में भी देखा जा सकता है। इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर अपनी व्यावहारिक समीक्षा में मौलिक चिंतन के आधार पर अनेक मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। शुक्लजी का इसी व्यापक दृष्टि कोण को उनके साहित्यिक ऐतिहासिक सादभ्युक्त विवेचना में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शुक्लजी ने साहित्य के मूल्यांकन के पूर्व साहित्यकार के पश्चिम और युगीन परम्परा को विशेष महत्त्व दिया है। रचनाकार और उसकी रचना में शुक्लजी अटूट सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इसलिए वे रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन, उसके मानसिक धरातल तथा सस्कारों को पूर्व अध्यय्य माना है। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी उनकी विस्तृत भूमिकाओं में इस विनोयता को देखा जा सकता है। काव्य सिद्धांत के समान ही काव्य समीक्षा में भी शुक्लजी ने स्थूल रसागा के परिगणन के स्थान पर कल्पना संचरण को बल दिया। स्थूल रसागा की लीन को छोड़ने वाले सूर के कवि की पहुँच का उल्लेख करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—“उनकी उमडनी हुई बाग्यारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाय हुए सचारिया स बंधकर चलन वाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रमभ शृ गार को ही लें, अथवा इस भ्रमरगीत को ही देखें, तो न जान कितन प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ।”^३

इधर विषय विस्तार के अभाव को देखकर शुक्लजी ने भारत-दुःहरिश्चन्द्र को आलोचना की है क्योंकि उनके साहित्य में प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की उपेक्षा सी दृष्टि-गत होती है। वे लिखते हैं—“मानवी वक्तियों ही के ममस्पर्शी अशौ को छाँटकर उन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का विचार किया, दूसरी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की ममस्पर्शिता शक्ति पर बहुत ही कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रखकर देखा।”^४

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १६६

२ वही, पृ० १६५

३ भ्रमरगीतसार (सिधा० रामचन्द्र शुक्ल), पृ० २

४ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १९५

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी के चिन्तन का व्यापक परिप्रेक्ष्य उनकी सिद्धांत-समीक्षा तब ही सीमित नहीं रहा प्रत्युत व्यावहारिक समीक्षा में भी पूर्ण रूप से उभर कर आया है।

मनोव्यापारात्मक दृष्टि—आलोचना माता की प्रस्थापना में मनोव्यापारात्मक दृष्टि का प्रयोग शुक्ल समीक्षा की अपनी विशेषता रही है। इन्होंने काव्य को हृदय का व्यापार माना है और इसी हृदय-तत्त्व को लेकर काव्य की परिभाषा, उसके प्रयोजन, लक्षण, रस और साधारणीकरण आदि विषयों पर विचार किया है। शुक्ल पूर्व हिन्दी समीक्षा में इस मनोव्यापारात्मक दृष्टि का अभाव सा था। वस्तुतः शुक्लजी की यह अपनी मौलिक दृष्टि है जिस पर कुछ सीमा तक पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का प्रभाव देखा जा सकता है।

काव्य परिभाषा—शुक्लजी ही प्रथम जाचाय है जिन्होंने काव्य परिभाषा में स्थूल काव्यांगों को महत्त्व न देकर मनोव्यापार को महत्त्व दिया है। शुक्ल पूर्व सस्कृत आचार्यों ने काव्य विषयक जो अनेक परिभाषाएँ दी थी, उनमें शब्दाय, शब्द या वाक्य को ही काव्य कहा गया था। यथा—

शब्दाथो सहितौ काव्यम्^१

तददीपो शब्दाथो सगुणावनलवृत्ति पुन क्वापि^२

रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्^३

वाक्य रसात्मक काव्यम्^४

उपर्युक्त काव्य विषयक परिभाषाएँ काव्य के बाह्य पक्ष की ओर संबन्ध करती हैं। शुक्लजी ने काव्य को मन स्थिति पर केंद्रित किया तथा काव्य का सम्बन्ध हृदय की मुक्तावस्था से जोड़ा—“जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।”^५

काव्य-लक्षण—काव्य लक्षण पर विचार करते हुए शुक्लजी ने ‘रमणीयता’ शब्द को अधिक महत्ता दी है। वस्तुतः कविता हृदय को रमान का वाय करती है जिसका सम्बन्ध भावनाशा और अनुभूतियों से है। रमणीय तत्त्व का सम्बन्ध भी हृदय-व्यापार अथवा मनोव्यापार से है इसलिए यहाँ भी शुक्लजी की वही मनोव्यापारात्मक

१ भामह, काव्यालंकार

२ भम्मट, काव्यप्रकाश

३ जगन्नाथ, रसगंगाधर

४ विश्वनाथ, साहित्यदर्पण

५ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १४१

गुप्तजीन यहाँ मनावना के मरुत अपन तय्य का गिद करन का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार जब प्रिय म अधिक दूरी ही नहीं है और न ही माग म एमी-बैसी कोई बाया ही ^३ या मामना गटबटा ^४, फिर एगा निरयक प्रनाप काई मुक्ति-सगत प्रतीत नहीं हुआ। इमी प्रकार गुप्तजीन एक और मनावनातिक सत्य प्रस्तुत करने हुए जायमी की आलोचना की है जिमम कविया द्वारा नायिकाआ के ही विशेष रूप से विरह-जीवन के चित्रण किय जा का कारण बताया गया है।—“ध्यान देन की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियो के मत्ये अधिक मढी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियो मे अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन दिन क्षीण होन, विरह ताप म भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के घणन म कवियो का जी उलता नहीं ता। बात यह ह कि स्त्रियो की श्रु गार चेष्टा का घणन करी म पुण्या की जो , वह पुरपो के दगा घणन करने मे नहीं।”^५

, भाग ० २२९

३

द्रष्टि का परिचय मिलता है। शुक्लजी न काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए कहा है कि काव्य का लक्ष्य तो एव महदय की अनुभूति को दूसरे सहृदय तक पहुँचा देना ही है। शुक्लजी परम्परित काव्य प्रयोजना को अधिक महत्त्व नहीं देते, जैसे यशस्वर्थ, व्यवहार, शिवेतरक्षतये आदि,^१ वे तो काव्य का चरम लक्ष्य मनुभूत को जात्मभूत बनाने अनुभव कराना मानते हुए कहते हैं—'व्यक्ति मनुष्य के हृदय का व्यक्तिगत सम्बन्ध के सुवृत्त मण्डल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् का नाता रूपो और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का मोक्ष दिखाई पड़ता है।'^२ हृदय को लोकसामान्य भूमि पर ले जाना मनायापारात्मनः सवेत है जहाँ सहृदय स्व पर की भावना से मुक्त होकर काव्य का आस्वादन करता है।

रस और साधारणीकरण सम्बन्धी मायताएँ—जिम प्रकार शुक्लजी न स्थल काव्यागा को महत्त्व नहीं दिया, उसी प्रकार उद्दान स्थूल रमागा को भी महत्ता न देकर उसके मानसिक पक्ष का उदघाटन किया है। शुक्लजी विभाव, अनुभाव और संचारिया की गिनती गिना दन को रसनिष्पत्ति सत्ता स अभिहित करना युक्तिसंगत नहीं मानते। इहोन रस का मनोविज्ञानिक धरातल पर अध्ययन किया और सबप्रथम हृदय और मस्तिष्क की भूमिका का सम्बन्ध से रस पर विचार कर निष्पत्ति दिया कि हृदयवाद ही रसवाद है^३ और हृदय की मुक्तावस्था ही रसदशा है।^४ माय ही शुक्लजी का यह कहना कि लोकहृदय म हृदय के लीन होन की दशा का नाम रसदशा है,^५ उनके मनो व्यापारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है।

'साधारणीकरण' की परिभाषा देते हुए शुक्लजी न साधारणीकरण की प्रक्रिया और सहृदय पर पडन वाले प्रभाव की ओर ही विशेष रूप से विचार किया है। यद्यपि शुक्ल पूर्व आचार्यों न रस के विभिन्न अवयवों के साधारणीकृत होन की बात कही थी किन्तु शुक्लजी ने ही सबप्रथम मनोविज्ञान के प्रकाश म आलम्बनत्व धम के साधारणी कृत होन की बात कही। 'साधारणीकरण की परिभाषा देते हुए शुक्लजी ने कहा है कि—'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन म जो व्यक्ति विशेष या वस्तुविशेष जाती है, वह जैसे काव्य म वर्णित 'आश्रय' क भाव का आलम्बन

१ मम्मट, काव्यप्रकाश—

'काव्यम योसे अथकृत व्यवहारविदे शिवेतरक्षतय,
सद्यपरिनिवृत्तये वात्तासम्मित तयोपदेश भुजे।'

२ चिन्तामणि, भाग २, पृ० ४६

३ अभिभाषण, पृ० ८०

४ रस मीमांसा (प्रथम सस्करण), पृ० ५

५ वही, पृ० २६६

होती है, वैसे ही सहृदय पाठक या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।^१
 × × × × × इससे सिद्ध हुआ है कि माधारीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।
 व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके
 साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय योडा या बहुत
 होता है।^२

गुलजी की इसी मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि को उनकी व्यावहारिक समीक्षा में
 भी देखा जा सकता है। वे जब किसी कवि अथवा साहित्यकार की आलोचना करते हैं,
 उस समय प्रत्येक तथ्य की गहराई तक पहुँचने की उनकी प्रवृत्ति रहती है। किन्ती घटना
 अथवा प्रसंग विशेष में चित्र पर कैसा प्रभाव पड़ता है? सहृदयों की संवेदनाओं को क
 कितना खूबसूरत दत्त है? इन सभी बातों पर गुलजी ने विशेष रूप से चिन्तन किया
 है। मूर के वियोग वणन सम्बन्धी आलोचना में गुलजी की इस प्रवृत्ति का दखल जा
 सकता है।—“परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपिया क वियोग में भी वह
 गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बँडे
 का काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूरसे
 द्वीप में राक्षसा के बीच पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक
 नगर में राजमुख भोग रहे थे।”^३

गुलजी ने यही मनोविज्ञान के सहार जपते तथ्य को सिद्ध करने का प्रयत्न
 किया है। उनके अनुसार जब प्रिय से अधिक दूरी ही नहीं है और न ही माग में ऐसी
 वैसी कोई बाधा ही है जो मामला गड़बड़ा दे, फिर ऐसा विरहक प्रलाप कोई युक्ति-
 सगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार गुलजी ने एक और मनोवैज्ञानिक सत्य प्रस्तुत
 करते हुए जायसी की आलोचना की है जिसमें कवियों द्वारा नायिकाओं के ही विशेष
 रूप से विरह-जीवन के चित्रण किया जाना का कारण बताया गया है।—“ध्यान देने की
 बात यह है कि विरह को व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मध्ये अधिक मढ़ी गई
 है। प्रेम के बग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन दिन क्षीण
 होने, विरह ताप में भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वणन में कवियों का जी उतना
 नहीं लगता। बात यह है कि स्त्रियों की शृंगार चेट्टा का वणन करने में पुरुषों को जो
 आनंद आता है, वह पुरुषों के दशा वणन करने में नहीं।”^४

१ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२९

२ वही, पृ० २३०

३ त्रिवेणी, सर्वा० ऋष्यावेद, पृ० ७८

४ वही, पृ० २८-२९

शुक्लजी ने व्यावहारिक समीक्षा में इस बात पर विशेष बल दिया है कि साहित्य म्रष्टा को मार्मिक स्थला की पहचान है या नहीं। इनकी यह धारणा कि मार्मिक स्थल ही स्रोता अथवा पाठक को अधिक प्रभावित कर सकते हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिणाम है। काव्य समीक्षा में शुक्लाजी ने सदैव परिस्थिति सापगता पर बल दिया है इसलिए यदि कही किमी कवि का परिस्थिति निरपन्न रूप, स अतिरजित वणन हुआ है तो वह शुक्लजी की आशसा प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका है। शुक्लजी की दृष्टि में अतिरजित और परिस्थिति निरपक्ष कल्पना सदब हेय रही है, शायद इसीलिए इन्होंने केशव, बिहारी आदि कवियों द्वारा वर्णित अतिरजनाओ की खिल्ली स्थान-स्थान पर उड़ाई है, यहाँ तक कि सूर जैसे समय कवि भी इसकी चपेट से नहीं बच सके। यद्यपि सूर द्वारा प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्षाओ की प्रशसा शुक्लजी ने की है, तथापि जब देखा कि अर्धे सूर भी व्यय की उपमा टटोलने में लग गय है तो उनकी आलोचना बड़े व्यग्यपूर्ण ढंग से की है—

“हरिकर राजत मालन रोटी बस इतनी ही सी तो बात है उस पर
मनो बारिज ससि बँर जानि जिय गह्यो मुआमुहि छोटी
मना बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी

‘एक छोटी सी रोटी की हकीकत ही कितनी, उस पर पहाड के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया। उपमाएँ यदि न मिली तो हम ‘शेष शारदा पर फिरे उनकी इज्जत लेने पर उतारू।’^१

परिस्थिति निरपक्ष अतिरजनाआ से शुक्लजी को चिढ़-सी है। बिहारी की अतिरजनाओ को लेकर लिखा गया यह अंश इसका एक अच्छा उदाहरण है—“बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते ले जाते शीशी का गुनाब-जल सूख जाता है, उसके विरह ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पडोसिया का रहना कठिन हो जाता है, क्रुशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, प्रत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया है। वहाँ यह सब मजाक, कहीं विरह वेदना।^२ शुक्लजी को जहाँ अत्यंत स्वाभाविक और परिस्थिति सापक्ष अतिरजनाएँ मिली है, उनकी प्रशसा गुवनजी ने मुक्त कण्ठ में की है। गोस्वामी तुलसीदास की भावुकता को लेकर लिखा गया यह अंश इसी तथ्य की पुष्टि करता है—‘कवि की पूण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपन का डालकर उनके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस दक्षि की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और वहाँ मिल सकता है? जीवन स्थिति के इतने भेद और कहा दिखाइ पडत है? इस क्षेत्र में जो कवि सवत्र पूण

१ रस मीमासा, पृ० १३०

२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७३

उतरता दिखाई पड़ता है, उसको भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता।

हिंदी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है।^१

परिस्थिति-भाष्यता को इतना महत्त्व देना भी शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण का परिचायक है। शुक्लजी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि कौन-सी अतिरजना हृदय को छू सकती है और कौन सी व्यर्थ मजाक की सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती। यद्यपि जायसी के विरह-वर्णन में अनेक अतिरजनाएँ आई हैं, किन्तु शुक्लजी उन्हें मजाक की हद तक पहुँची नहीं मानते—

‘जायसी का विरह वर्णन कहीं-कहीं अत्यन्त अत्युक्तिपूर्ण होना पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है। उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की बरामात नहीं जान पड़ती, हृदय की अत्यन्त, सीधे बंदना के शब्द गहरा प्रतीत होती हैं।’^२ इसी प्रकार राम द्वारा सेतुबन्ध जसी आश्चर्यजनक घटना का सुनकर बंशव न रावण के मुख से जो चक्कराहट पूर्ण उक्तियाँ बहलाई हैं—

बाँधे बन निधि ? नीरनिधि ? जलधि ? सिन्धु ? बारीस ?

सत्य, तौरनिधि ? कपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

शुक्लजी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए हैं और उन्हें पूर्ण मनोवैज्ञानिक मानत हैं, क्योंकि यहाँ असम्भव काय एकाएक ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपयुक्त वचन ओठा पर आ जाना असंभव नहीं।^३

(३) लोकमगल की भावना—शुक्लजी के समीक्षा माना में मनोव्यापारात्मक दृष्टि के साथ लोकमगल की भावना की भूमिका रही है। वे ‘कला कला के लिए’ (Art for Art Sake) के समर्थक कभी नहीं रहे, उन्होंने कला को ‘जीवन के लिए’ (Art for Life Sake) ही स्वीकार किया है। रस तत्त्व, सौन्दर्य तत्त्व और मगल तत्त्व को शुक्लजी ने एक-दूसरे के अविच्छेद्य रूप में देखा है। उनके अनुसार मगलमूर्ति में सौन्दर्य तत्त्व अवश्य होगा और सौन्दर्य तत्त्व में रस तत्त्व की सत्ता अवश्यभावी है। इस प्रकार इन तीनों तत्त्वों का एक मगल-तत्त्व में ही समाहित कर शुक्लजी ने अपनी लोकमगल भावना को व्यापक आधार दिया है। शुक्लजी ने काव्य को जिन दो भागों में बाटा है, उसके मूल में भी लोकमगल की भावना को देखा जा सकता है—

(१) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२) आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले।^४

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९३-९४

२ त्रिवेणी, पृ० ४०

३ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ११८-११९

४ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१४

शुक्लजी ने व्याघ्रहारि
 म्रष्टा को मार्मिक स्थलो की पट्ट
 ही स्रोता अथवा पाठक को
 परिणाम है। काव्य समीक्षा म
 है इसलिए यदि कही किमी का
 है तो वह शुक्लजी की आश
 दष्टि म अतिरजित और परि
 इहोने केशव, बिहारी आदि क
 पर उडाई है यहा तक कि सूर '
 सूर द्वारा प्रयुक्त उपमा, उत्प्रे
 अथे सूर भी व्यय को उपमा ट
 ढग से की है—

'हरिकर राजर
 मनो बारिज सर्ग
 मनो बराह भूध

' एक छोटी सी रोटी की हकीक
 लाकर रख दिया। उपमाएँ य
 लेने पर उतारू। '१

परिस्थिति निरपेक्ष अ
 अतिरजनाओ को लेकर लिखा गय
 की उन उक्तियो म जिनमे विरहिणी
 जल सूख जाता है उसके विरह ताप
 का रहना कठिन हो जाता है, कृशता
 हाथ पीछे और सास छोडने के साथ
 बडा तमाशा ही खडा किया है। कहा य
 को जहाँ अत्यंत स्वाभाविक और परि
 प्रशसा शुक्लजी ने मुक्त कण्ठ से की है। ग
 लिखा गया यह जश इसी तथ्य की पुष्टि करता
 कि वह प्रत्यक मानव स्थिति म अपन को डालकर
 इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढकर विस्तृत
 जीवन स्थिति के इतन भेद और कहीं दिखाइ पडते हैं ?

१ रस मीमासा, पृ० १३०

२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७३

३।"१ अतः यहाँ तक कहा जा सकता है कि गुकलजी लोकमगल की भावना को इतना - देने लगे थे कि वह उनका एक पूवग्रह बन गई।

की आशंका भाव-पक्ष पर बल—गुकल समीक्षा की एक विशेषता यह अपने समीक्षा सिद्धांतों में वहाँ भी कला पक्ष को भाव-पक्ष की नहीं की गये उपेक्षणीय भी नहीं माना। गुकलजी ने काव्य-
 १ अधिक माय समझा, क्योंकि यह भाव पक्ष आत्मा मानता है। आचार्य गुकल रस को , जबकि कला पक्ष में मस्तिष्क की भूमिका की कम। वेदों चमत्कार और उक्ति है और 'कला कला के लिए' कहने वाले की साधकता भी वे चमत्कार में अलंकार विषयक परिभाषा में साफ ीर वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का होने वाली युक्ति ही जलवार है।"२ की उद्धान नहीं मानते, वरन् इसका उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित अवशान्ति बना देता है।" गुकलजी द्वारा दिया जाना भी उनकी इस विशेषता का म अधिक महत्व प्रदान करते हैं। 'असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता है। कविता सुनना और तमाशा देखना लेकर चलने वाली उक्ति को गुकलजी अभिहित करते हैं। गुकलजी ने काव्य का है वरन् उद्धाने कविता का अंतिम करके 'उनके साथ मनुष्य-हृदय का । और उनके झुकाव का द्योतक है।

वाक्यों की इस भेदक रेखा में भी 'आनन्द की साधनावस्था ही शुक्लजी को अभिप्रेत है क्योंकि प्रयत्न पक्ष में ही लोक मंगल सम्भव है, उपभोग पक्ष तो मात्र लाकरजनकारी सिद्ध हो सकता है। शुक्लजी न मंगल विधान को ही धर्म की सना से अभिहित करते हुए उसे ही भगवान की आनन्द कला का विकास रूप माना है— 'वह व्यवस्था या वृत्ति जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'जम्बुद्वीप' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्म वृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता—चाह वह उग्र हो और चाह प्रचण्ड हो, चाह कामल और मधुर, भगवान की आनन्द कला का विकास माना है।'^१

शुक्लजी ने लोकमंगल की भावना के प्रसार के लिए लोकधर्म को स्वीकार करना आवश्यक समझा है जिसके बिना व्यक्ति धर्म उच्छलता है, जिसे जीवन में किसी भी प्रकार से श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। शुक्लजी ने कहा है—“जहाँ लोकधर्म और व्यक्तिधर्म का विरोध हो, वहाँ कममार्गी गृहस्थों के लिए लोकधर्म का ही अवलम्बन श्रेष्ठ है।”^२

व्यावहारिक समीक्षा में भी शुक्लजी ने लोकमंगल की भावना को ही अपना आलोचना निकष बनाया है। सूर और तुलसी की तुलनात्मक आलोचना जहाँ जहाँ मिलती है, वही इस तथ्य का भी उदघाटन हो जाता है। सूर और जायसी शुक्लजी की दृष्टि में वह स्थान नहीं पा सके जो तुलसी ने पाया, क्योंकि सूर के आराध्य देव लोक-रजनकारी रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण है, जायसी के काव्य नायक हैं लौकिक जगत के राजा रत्नसेन जो किसी भी प्रकार से तुलसी के आराध्य देव मंगल विधायक, मर्यादा पुरोत्तम राम की कोटि में नहीं आ सकते। जो लोकहितकारी न हो, उससे शुक्लजी को अधिक लगाव नहीं, तभी तो सूर के कृष्ण के बारे में वे लिखते हैं—“कस और उसका साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामन है लोकशत्रु या लोकपीडक के रूप में नहीं। उसके कारण वैसा हाहाकार सुनाई नहीं पड़ता, उनका अत्याचार 'सम्य अत्याचार' सा जान पड़ता है।”^३ तुलसी के राम में वे मंगलत्व को साकार हुआ देखते हैं, इसीलिए राम का पुल बाधना और रावण जैसे प्रचण्ड शत्रु को मार गिराना उनकी दृष्टि में वीर धर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न रूप में है।^४ 'मंगलाशा में तुलसीदासजी के प्रति शुक्लजी की लेखनी से निस्सृत ये शब्द ध्यातव्य हैं— लोकमंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगल ज्योति जो धर्म के रूप में जगत की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनन्द का आभास देती है और उसकी रक्षा द्वारा सत् का—नित्यत्व का—बोध कराती

१ रस मीमांसा, पृ० ६०

२ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३६

३ त्रिवणी, पृ० ७९-८०

४ वही, पृ० ३०

है।^१ अर्थात् यहाँ तक कहा जा सकता है कि गुजरती गोरमगन की भावना को इतना अधिक मात्रा में लगे थे कि वह उनका एक प्रयत्न बन गई।

कला-पक्ष की आवेक्षा मात्र-पक्ष पर बल—गुजर समीक्षा की एक विशेषता यह भी रही है कि उन्होंने अपना समीक्षा गिद्धाओं में कहीं भी कला पत्र को भाव-गण की अपेक्षा महत्ता प्रदान नहीं की और इसे उपेक्षणीय भी नहीं माना। गुजरती ने काव्य शास्त्रीय सम्प्रदायों में रस सम्प्रदाय को ही अधिक मात्रा में महत्ता, क्याकि यह भाव पत्र की लेखक कला है और रस का काव्य की आत्मा मानता है। आत्माय गुजर रस को हृदय का स्थापार माना है। मन्त्रित्व का नहीं जबकि कला-गण में मन्त्रित्व की भूमिका अधिक रहती है। हृदय की मूल्य गान्धाभा की कम। केवल चमत्कार और उक्ति वैविध्य का गुजरती ने काव्याभाषा की मजा दी है और 'कला कला के लिए' कहते यात्र भाषाओं पर गुजर आक्रमण किया है। अलंकारों की साधनता भी वे चमत्कार में नहीं, रसोपमा में माना है। यह बात उनकी अन्ततः विषय परिभाषा में मात्र दिग्गार्ह की है— 'गार्हों का उक्त दिग्गार्ह और चम्पुभा के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी महत्त्व होने वाली मुक्ति ही अन्ततः है।'^२ इसी प्रकार गुजरती उक्ति वैविध्य को स्वर की उदात्त नहीं माना, चम्पु द्रव्य अभिप्राय को कथन का उक्त अड्डे ढग में है या उक्त कथा की आत्मा को आवृत्त करता है तथा उक्त विषय को मार्मिक और प्रभावशाली बना देता है।^३ गुजरती द्वारा काव्य में मार्मिक प्रयोगोद्भावना को महत्त्व दिया जाता भी उनकी रस विषयता का परिणामक है कि वे भाव पत्र का उक्त को ही काव्य में अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। गुजरती ने तो यहाँ तक कह दिया है कि केवल "जगापारणव की कवि मन्त्री महदयता की परभाव रही है, केवल मुद्रात् तो यावत्ति है। कविता गुणता और तमाणा देवता एक ही बात रही है।"^४ केवल कला-गण का लक्ष्य चमत्कार यात्री उक्ति की गुजरती 'काव्य की मजा में न' 'मुक्ति' की मजा में अभिहित करते हैं। गुजरती ने काव्य का अन्तिम लक्ष्य चमत्कार या मनोरंजन नहीं माना है परन्तु उदात्त कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पत्र का प्रत्यक्षीकरण करने 'उनने साय मनुष्य हृदय का मामजस्य स्थापना' माना है जो भाव पक्ष की ओर उक्तें गुणाव का चोत्तन है।

- १ गोण्यामी तुनसीदास, पृ० ६३
- २ वही, पृ० १६१
- ३ वही, पृ० १८१
- ४ चिन्तामणि, भाग १, पृ० १७१
- ५ वही, पृ० १६२

गुप्तजी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में भी हृदय पक्ष प्रधान कविता की प्रशंसा की है और चमत्कारवादियों की भ्रमना। तुलसी, सूर और जायसी भाव पक्ष प्रधान कवि हैं, इसलिए उनकी प्रशंसा में गुप्तजी ने बहुत कुछ किया है। तुलसी की भावुकता को लेकर किया गया यह अंश इस बात का एक उदाहरण है—“प्रबंधकार कवि की भावुकता का मन्त्रे अधिपति यह देखने में चरता है कि यह किसी आश्रयान के अधिपति ममस्पर्शी स्थिति का पहचान सवा है या नहीं। इन स्थिति को गोस्वामीजी ने अच्छी तरह पहचाना है इनका उन्होंने विस्तृत और विगद वर्णन किया है।^१ लेकिन चेतन जय अलकारवादी और चमत्कारप्रिय कविता की स्थिति भी अनेक स्थानों पर उड़ाई गई है। केशव को हृदयहीन कहने का कारण भी यही है कि वेगव ने जितना महत्त्व चमत्कार और पाण्डित्य को दिया, उतना अनुभूति और भावना को नहीं—“केशव की रामचंद्रिका में पच्चीसा ऐसे पद्य हैं जिनमें जलकारा की भरी भरती के चमत्कारों के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात नहीं मिलेगी।”^२ गुप्तजी तो काव्य को मनोरजन और चमत्कार-प्रदर्शन की भूमि में उठाकर हृदय की लोकसामाज्य भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं जिसमें कला जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। केवल अनायी और विचित्र विचित्र सामग्री प्रस्तुत करने वाले कवियों का शिष्ट गुप्तजी ने कहा है—“यो ही सिर पच्ची करन—विना किसी भाव में मग्न हुए कुछ-कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना, या तो बावलापन है या दिमागी कमरत सच्चे कवि की कल्पना नहीं।”^३

स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता—गुप्तजी के आलोचक व्यक्तित्व को एक बड़ी विशेषता उनकी स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता थी। वे जिस विषय पर कुछ लिखत अथवा कहते, उनके पूर्व उस विषय पर गहन चिंतन मनन किया करते थे। इसलिए आज भी उनकी ठोस स्थापनाओं को अस्वीकार करना अधिकांश विद्वानों के लिए सोचने का विषय बन जाता है। आज का प्रत्येक समीक्षक उनकी स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता के लिए श्रद्धा से नतप्रणम हो जाता है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इसी विशेषता को अपने जीवन्त शब्दा में कहा है—“वे तन कर कहते हैं—‘मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने में मानने की मुझे परवा नहीं। फिर भी गुप्तजी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे शरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुनामी पसंद नहीं करत और नवीन की गुनामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। गुप्तजी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।”^४

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८८

२ चिंतामणि, भाग १, पृ० १६०

३ त्रिवेणी, पृ० १००

४ हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० १४७

किसी की सूठी निंदा-स्तुति करना श्रेष्ठ आलोचक का गुण नहीं हो सकता। गुवलजी ने इस बात का विशेष ध्यान रखा और जहाँ साहित्य स्रष्टा की अच्छाईयाँ को पाठकों के सम्मुख रखा वहीं उनकी त्रुटियों और कमियाँ का भी निःसकोच उद्घाटन किया। पण्डितजी की सूक्ष्म दृष्टि गुण-दोष को बूढ़ निबालन में सबदा समथ रही है। इन्होंने मूर, तुलसी जायसी प्रभृति कवियों की ममीक्षाओं में केवल उनकी वाच्य विशेषताओं को ही सामने लाकर नहीं रखा, प्रत्युत उनकी कमियाँ की ओर भी सहृदय पाठकों का ध्यान केन्द्रित किया। इनका सबस बड़ा प्रमाण तो उनका कुछ खटवने वाली बातें^१ कीर्ण निबन्ध है जिसमें उन्होंने अपने आदर्श कवि गोस्वामी तुलसीदास की त्रुटियाँ का उद्घाटन किया है। इसी प्रकार जब मूर के वियोग वणन में उन्हें परिस्थितियों की गम्भीरता नजर नहीं आई तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया—“मूर का वियोग वणन वियोग वणन के लिए ही है परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। वृष्ण गोपियों के साथ शीघ्र बरन करते किसी कुञ्ज या झाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अंतर्धान हो जाते हैं, वगैरह गायिका मूर्च्छित हो गिर पड़ती है।^२ आलोचना के लिए गुवलजी के अपने मानदण्ड के जिनना निर्भीकतापूर्वक प्रयोग उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में किया है। लोकमन और मयादा की भावना जिन कवियों में नहीं पाई गई, वे कभी उनकी दृष्टि में शीपस्थ नहीं हो सके। यद्यपि जायसी के पद्मावत को इतने प्रशंसक मान का श्रेय गुवलजी को ही है किन्तु इन्होंने जायसी की व्यावहारिक त्रुटियों का उल्लेख भी स्थान स्थान पर किया है। देखिए— कुम्भलनेर का राजा देवपाल रूप, गुण, ऐश्वर्य पराक्रम प्रतिष्ठा विभी में भी रत्नसेन की बराबरी का न था, अतः उसका दूती भेजकर पद्मावत को बहाने का प्रयत्न गडा हुआ खम्भा घबेलने का बान प्रयत्न सा लगता है। इस घटना के सन्निवेश से पद्मावती के सतीत्व की उज्ज्वल कान्ति में और अधिक ओष चढ़ती दिखाई नहीं देती।”^३

कुवलजी ने छायावाद और रहस्यवाद की मूलकर भ्रष्टिजा उजाई है क्योंकि ये साहित्यिक वाद उनकी दृष्टि में वाच्य को जीवन से दूर हटा ले जाने का वाय करते हैं। केवल कल्पना लोक में सचरण करने वाले साहित्य को कुवलजी की आसना कभी प्राप्त नहीं हो सकी। कुवलजी की दृष्टि में साहित्यकारों का समाज के प्रति विशेष दायित्व होता है जिससे मुकरने वाले तथाकथित साहित्यकारों को कुवलजी ने कभी क्षमा नहीं किया। साहित्यकार के सामाजिक दायित्व को लेकर पाश्चात्य जगत के एक विद्वान ने

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १८८

२ त्रिवेणी, पृ० ७८

३ त्रिवेणी, पृ० ७८

भी ऐसी ही बात नहीं है।^१ साहित्य में प्रचलित हो रहे अनेक नये 'वाद' में गुवनजी अत्यन्त जम-तुष्ट थे जिनमें विरोध में उठाने निर्भीकतापूर्वक कहा—“मन्वी कविता किसी वाद को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर चलती है। वादप्रस्तुत काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है।”^२

पाश्चात्य 'नूतन गण्टि निर्माण करने वाली कल्पना' और 'व्यक्तित्वात्' के उग्र रूप को लेकर चलता वाले साहित्य क्षेत्र में गुवनजी ने 'नवनी हृदयों का एक कारखाना बना है जिगम और हृदयों में अपना हृदयों की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत से लोग एक-एक का कल्पित हृदय तिमित करने दिखाने लगे हैं।'^३ लेकिन गुवनजी की इसी निर्भीकता ने जब-जब और जहाँ जहाँ उग्र रूप धारण किया है, वहीं यह विरोधता उनकी साहित्यिक मीमांसा बन गई है।

— ० —

१ 'Art is not created in vacume. It is the work, not simply of a person but of an author fixed in time and space, answering to a community of which he is an important, because articulate part. Five Approaches of Literary Criticism, Wilber S Scott, p 123

२ चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६७

३ रस मीमांसा, पृ० ३२२

समीक्षा के आग्रह

शुक्लजी को हिन्दी समीक्षा के राजपथ निमाण का श्रेय देना सबथा उचित है, किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनकी समीक्षा पद्धति सबथा निर्दोष है। उन्होंने अग्र और हिन्दी जालोचना को ठोस धरातल मनोवैज्ञानिक दृष्टि और नई दिशा प्रदान की तथा उनके स्वरूप निघारण का भगीरथ प्रयत्न कर उमे स्थायित्व प्रदान किया, तो दूसरी ओर व अपने पूराग्रहो रचिवैभिय और एकांगी दष्टिकोण से मुक्त नहीं रह सके। अनेक स्थानो पर शुक्लजी के व्यक्तिगत जाग्रह उभर आये हैं और निष्पक्षता का निर्वाह नहीं हो सका है। इतना होन पर भी शुक्लजी की सीमाएँ उनकी विशेषताओ के सामन छिप गी जाती है। समुद्र म जहाँ असम्ब रत्नादि हुआ करते है वही कुछ घोषे आदि का पाया जाना कोई आश्चयजनक और असंगत बात नहीं।

शुक्लजी का तुलसी विषयक पूराग्रह—शुक्लजी की ममालोचक दृष्टि जहा अत्यंत व्यापक और ममस्पर्शी थी वही कुछ अपन जाग्रह भी थे जो शुक्लजी पर किसी हद तक हावी हो चुके थे। तुलसी और उनके 'मानस' व प्रति 'शुक्लजी के आग्रह को झुठनाया नहीं जा सकता। तुलसी उनके आदग कवि थे और 'रामचरितमानस' उनका आदग काव्य। तुलसी के काव्यादशों का उन्होंने जानोचना व प्रमुख मानक के रूप म स्वीकार किया। तुलसी से बढ़कर उनकी दष्टि म हिन्दी माहििय म और कोई कवि नहा हुआ। उनकी दष्टि म मूर जैसे कवि भी तुलसी से नीचे के दरज के ही है। उनका यहना है 'न जाने किसने 'यमक' के नाभ म यह दोहा कह जाला कि 'मूर मूर तुलसी समी उडुगन केगवदाम।' यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विमृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बडा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारतहृदय, भारतीयकण्ठ, भक्तचढामणि गोस्वामी तुलसीदास।"१

शुक्लजी की दृष्टि में केशव बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिए रखना उसका अपमान करना है।^१ शुक्लजी ने तुलसी के दुबल पशु की सदैव रक्षा की है। तुलसी के मानस में स्त्रियों की निन्दा विशेष रूप में की गई है जिसे शुक्लजी भी स्वीकार करते हैं। किन्तु, वे बड़ी सरलता और सफाई के साथ तथ्य को छिपाने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं 'उन पर स्त्रियों की निन्दा का महापातक लगाया जाता है पर यह अपराध उठोन अपनी विरति की पुष्टि के लिए किया है। उमे उनका वैरागीपन समझना चाहिए।'^२ जत स्त्रियों के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने कहा है, वह सिद्धांत वाक्य नहीं है, जयवाद मात्र है।^३

शुक्लजी की तुलसी विषयक सफाई इससे भी अधिक बड़ा देखी जा सकती है जहाँ वे डोन, गँवार, गूढ़, पशु, नारी ये सब ताडन के अधिकारी, चौपाड़ की व्याख्या कर अपना निष्कर्ष देते हैं 'चिढ़ने का कारण है 'ताडन' शब्द, जो 'ढोल' शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लाया गया है। स्त्री' का समावेश भी सुरचि विरुद्ध लगता है पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।' और तो और, भरत का अपनी माता के प्रति ऐसा कथन कि 'बर मागत मन भई न पीरा, गरि न जीह मुह परेउ न कीरा — शुक्लजी को मनोहर और सगत प्रतीत होता है। उनका कहना है 'शानि के साथ अमप का संयोग हो जाना है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कौसी मनोहर दिखाई पड़ती है।^४ यह सब शुक्लजी का तुलसी के प्रति पूर्वाग्रह ही है। वैसे तो शुक्लजी ने तुलसीदासजी की कमियों का उदघाटन 'कुछ खटकने वाली बातें' शीघ्रक निबन्ध में किया है किन्तु हम उसमें कोई विशेष खटकने वाली बात नजर नहीं आती। जो वस्तुतः खटकने वाली बातें हैं, शुक्लजी ने उन पर दृष्टि ही नहीं डाली है और अगर डाली भी है, तो आग्रह के कुहरे में वह तथ्य को पकड़ने में असमर्थ सी रही है। एक बात और, शुक्लजी कभी यह स्वीकार नहीं कर सकते कि कोई दूसरा व्यक्ति तुलसी पर आरोप लगाये। यदि कोई पाठक 'मानस के कुछ प्रसंगों में उब जाता है तो दोष पाठक का ही है, तुलसी का नहीं। देखिए कुछ लोग 'रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर उबते से हैं। उह समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनों लोक की दृष्टि लगी

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १९०

२ वही, पृ० ५५

३ वही, पृ० ५६

४ वही, पृ० ५८

५ वही, पृ० १०५

रहती है। कृष्ण का गोचारण और रासलीला जादि देखने को भी देवता एकत्र हो जात है, पर केवल तमाशवीन की तरह।^१

गुबलजी के तुलसी विषयक आग्रह को वहाँ भी देखा जा सकता है जहाँ वे तुलसी का नाम आने पर उनकी विशेषताओं की झड़ी लगाने लगत हैं अथवा किसी अन्य कवि की आलोचना करते करते तुलसी की प्रशंसा में भी दो चार पक्तियाँ लिख डालते हैं। सूर की आलोचना में तुलसी की प्रशंसा की घुसपैठ देखिए “सूरसागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की ‘गीतावली’ मौजूद है, पर ‘रामचरितमानस’ और ‘कवितावली’ की शैली की सूर की कोई वृत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपन चरित्र चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सबसे बड़ी है और सूर की एकमुखी।”^२

जायसी विषयक आग्रह—यद्यपि गुबलजी का जायसी के प्रति उतना आग्रह नहीं था जितना तुलसी के प्रति रहा है, तथापि बहुत से स्थलों पर जायसी के प्रति उनके आग्रह की रेखाएँ स्पष्ट नजर आती हैं, जैसे बिहारी के काव्य की अतिरजनाओं को तो वे मजाक की हद तक पहुँची मानते हैं और वे स्थान स्थान पर उनकी खिल्ली भी उड़ते हैं, किन्तु जायसी की अतिरजनाओं को वे युक्तिमग्न और सायक मानत है। जायसी की अत्युक्तियों के सम्बन्ध में लिखते हैं “इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द-सकेत प्रतीत होती हैं। उनके अंतर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है, वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं। बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदण्ड मात्र नहीं।”^३

जायसी के बिरह वर्णन में भी अनेक वीभत्स चित्र उपस्थित हुए हैं। कई स्थलों पर ‘रक्त के आँसू’, ‘तोला माँसू’ और सूखी हडिडया का उल्लेख हुआ है, किन्तु गुबलजी ने उसकी इतनी भीषण और बटु आलोचना नहीं की है जितनी बिहारी और बेदाव की।

सगुण भक्ति-विषयक आग्रह—निगुण की अप ता सगुण काव्यधारा को गुबलजी की विशेष आशंसा प्राप्त हुई। निगुण कवियों की विस्तृत आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखने में गुबलजी का मन नहीं रम पाया है इसका प्रमाण उनका ‘हिन्दी-साहित्य का इतिहास’ है। किन्तु सूर और तुलसी पर उनकी लिखी विशेष सम्बन्धी-बौद्धी भूमिकाओं

१ भ्रमरगीतसार, पृ० ६

२ वही, पृ० २९

३ त्रिवेणी, सपा० कृष्णानन्द, पृ० ४०

(जो अपने आप में स्वतन्त्र प्रत्यय रूप भी है) में स्पष्ट प्रतीत होता है कि सगुण काव्य प्रति उनका आग्रह था। सगुण भक्ति में महत्त्व का प्रतिपादन गुप्तजी ने बहुत स स्यलो पर किया है। इसी ध्वाग्रह के कारण तुलसी आर सर उनका प्रिय कवि है।

प्रबंधकाव्य सम्बंधी दृष्टिकोण—समी प्रकार, गुप्तजी का प्रबंधकाव्य के प्रति विशेष आग्रह रहा है। वे मुक्तक काय की अपना प्रबंधकाव्य को विना महत्त्व देते हैं। उनका ऐसा विचार है मारिक स्यला का जिनका भुंर और विना वणन प्रबंधकाव्य में सम्भव है, उतना मुक्तक काय में नहीं। वे प्रबंध और मुक्तक काव्य का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि 'मुक्तक में प्रबंध के ममान रम की धारा नहीं रहती जिसमें क्या प्रसंग की परिस्थिति में अपने मो भना हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रम के ऐसे छोट पडते हैं जिनसे हृदय कनिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत बन स्यली है तो मुक्तक एक चना हुआ गुलदस्ता है।' गुप्तजी की व्यावहारिक समीक्षा में प्रबंधकाव्य सम्बंधी आग्रह को स्पष्ट देखा जा सकता है। वैसे तो उहाने उल्लेख कोटि के मुक्तक काव्य की भी प्रशंसा की है किंतु जितनी आशंसा प्रबंधकाव्य को उनसे प्राप्त हुई है, उतनी मुक्तक काव्य को नहीं। प्रबंध रचयिता तुलसी और जायसी के काव्य में गुप्तजी का मन अधिक रमा है जबकि मुक्तक कवि सूर और विहारी पर उनकी कृपादृष्टि उतनी नहीं रही है।

प्रकृति प्रेम और तद्विषयक आग्रह—गुप्तजी काव्य में प्रकृति तत्त्व की उपेक्षा को दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। प्रकृति चित्रण को केवल उद्दीपन की सामग्री समझने वाले को वे रुचिभाट और सस्कार सापेक्ष बताते हैं। हिंदी कविता के दुर्भाग्य का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं 'येद के साथ बहना पडता है कि हिंदी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काय लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसी से हिंदी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वणन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है।' प्रकृति के खले विस्तार को गुप्तजी ने आलम्बन रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। जिन कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का मार्मिक चित्रण किया, वही गुप्तजी की दृष्टि में कुछ स्थान पा सके और प्रशंसा के दो शब्द उनकी लखनी से लिखवा सके। तुलसीदासजी के प्रकृति प्रेम के सम्बंध में गुप्तजी लिखते हैं "हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा सूक्ष्म निराकरण नहीं है जिसे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी बहुत है तो गोस्वामी तुलसीदास में ही।"

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७

२ चिंतामणि, भाग २, पृ० २२

३ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १०

इसी प्रकृति क्षेत्र की उपेक्षा के फलस्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पानाचना करत हुए गुबलजी कहत है "इहनि मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं दखा उमे उसी के उठाय हुए घेरे म रखकर देखा। मनुष्य की मष्टि को उमके फँचाए हुए प्रपचावरण मे बाहर, प्रकृति क विम्नृत क्षेत्र की ओर ले जाने का प्रयास इहान नहीं किया।" १ गुबलजी न कविता और सृष्टि प्रसार को एक-दूमरे से मम्बड माना है। कविता मे यदि प्रकृति विस्तार का प्राथम्य नहीं मिना तो उसका रचयिता कवि धेष्ठ कोटि म नहीं आ सवता। गुबलजी के अनुसार तो 'कविना बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अत प्रकृति का सामजम्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता क प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपन भावा का ममटकर मनुष्य अपन हृदय को रोप सृष्टि स किनार कर ले या स्थाय की पगुवति म ही लिप्य रखे तो उसकी मनुष्यता कहीं रहगो।' २

प्रकृति क प्रति इतना रागात्मक भाव भी आग्रह की कोटि म आ जाना है और इसी आग्रहपूण दष्टिकाण क कारण यह प्रकृति प्रेम गुबलजी की समीक्षा-सीमा के अन्तगन रखा गया है।

नूतन काव्य दष्टि के प्रति असहिष्णुता—गुबल समीक्षा की एक सीमा यह भी रही है कि क नवीनता क प्रति उप ना-सी रखत ह। साहित्य म प्रचलित नये नय वादो, नई नई माहित्यिक प्रवृत्तिया और शैलियों का अधिक महत्त्व नहीं देन। क ऐसे क्षणमगुर प्रवाहा को सादरन माहित्य के लिए दुभाग्यपूण मानत थे। आजकल चल रह इसी रवय की आर सकेन करत हुए गुबलजी कहने है काव्य की स्वाभाविक उमग के स्थान पर नवीनता के लिए जाबुलता मात्र रह गई है। कविता चाट हा, चाट न हा, माई नवीन रूप या रग डग अवश्य खडा हा। पर, कारी नवीनता केवल मरे हुए आदोन का इतिहास छोड जाय, तो छोड जाये, कविता नहीं खडी की जा सवती। कवल नवीनता और मौलिकता की बडी चढी सनक म सच्ची कविता की ओर ध्यान कहीं तक रह सक्ता ह।" पाश्चात्य माहित्य जगत मे उमडन और मिटते साहित्यिक वादा का भारतीय साहित्य म जो जघानुकरण हो रहा है, गुबलजी ने उसकी भत्सना की है और उससे सावधान तथा सचेन रहन का आग्रह किया है "आजकल पाश्चात्य वाद वधा के बहुत-ने पने कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाय हुए—यहाँ पारिनात पन की तरह प्रदर्शन किये जान गे हैं जिसम उपवन म बहुत गडबडी दिखलाई दन लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेडों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनका वे पत्ते हैं। पर यह बात हो नहीं रही है।" किसी नई विचार-

१ चिंतामणि, भाग १ पृ० १९४

२ वही पृ० १४६

३ वही पृ० २४०-२४१

४ वही, भाग २, पृ० १६४

धारा के प्रति इस प्रकार का विरोध समीक्षण की सहानुभूतिहीन दृष्टि का परिचायक है।

छायावाद एव रहस्यवाद की आलोचना—‘मानस वा अवगाहन करने वाला शुक्लजी शायद छायावाद एव रहस्यवाद को भनी भाँति समझ नहीं पाये। छायावाद और रहस्यवाद को जो आशंसा शुक्लजी से अभिप्रेत थी, वह इन्हें मिल नहीं सकी। छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए शुक्लजी ने खीजकर कहा है “हमारे नवीन हिन्दी साहित्य क्षेत्र में ‘गाँव में नया आया ऊँट हो रहा है। बहुत से उपयुक्तों को अपना एक नया ऊँट छोड़न का हीमला हा गया है। जैसे भावा या तथ्यों की ध्यजना के लिए श्रीयुत रवीन्द्र, प्रकृति के श्रीडास्थल स लेकर नाना मूत स्वरूप सडा करते है, वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखन वाले बहुतेरे ऊटपटाग चित्र खडा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही ‘छायावाद की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखान के फेर में पड गये है।’^१

छायावाद को ‘ऊटपटाग और ‘असम्बद्ध प्रलाप कहना शुक्लजी की कठोर एव सकीर्ण दृष्टि का परिचायक है। रहस्यवाद में जिस अज्ञान सत्ता में मिलने की आनुभवा का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है, शुक्लजी उम वकवाम से अधिक नहीं समझते, तभी तो वे लिखते हैं “अब विचारन की बान है कि किसी अगोचर और जज्ञात के प्रेम में आँसुआ की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसों का मितार बजाने, प्रियतम असीम के सग गन्य प्रलय सा ताण्डव करने या मुदे नयन की पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही— भी तक तो कोई हज न था—कविता कहना, वहाँ तक ठीक है? चारा और से बदखल होकर छोटे छोटे वनकौआ पर भला कविता कब तक टिक सकती है।”^२

शुक्लजी ने रहस्यवाद में केवल अप्रस्तुत आरोप और हृदय की लम्बी चीड़ी उछल बूद देखी है व उसकी आत्मा को नहीं पहचान सके। उनकी दृष्टि ज्ञात अज्ञात को केवल एक जोट या वहाना मात्र समझ सकी। यदि शुक्लजी का नय प्रचलित वादों के प्रति झतना उपेक्षा का भाव नहीं होता, तो शायद वे ऐसा नहीं कहते “बगभाया के काव्यक्षेत्र में तो एक बाने ही में इग रहस्यवाद—छायावाद की तन्त्री बजी, मराठी, गुजराती को हर एक विलासी ताल मुर पर नाचने की आदत नहीं, पर हिन्दी में तो इसकी नवल का तूपान सा आ गया।”^३

अपनी सीमाओं का बावजूद छायावाद रहस्यवाद ने हिन्दी काव्य की थीवद्धि में जो योगदान किया है, उसे इस प्रकार नकार देना उचित नहीं कहा जा सकता।

१ भ्रमरगीतसार पृ० २०

२ चिन्तामणि (भाग २), पृ० ५६

३ वही, पृ० १०८-१२२।

'कलावाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण—'आयावाद और रहस्यवाद के समान ही कला-वाद की भत्सना 'गुक्नजी ने बड़ी निममता के साथ की है 'बना, बना के लिए' के प्रवक्तृ और समर्थको पर उन्होंने बहुत ही तीखे व्यंग्य बाण छोड़े हैं। उन्होंने नूतन रूप-संज्ञना विषयक बनावादी विद्रोह को अस्वीकार करने हुए लिखा है " 'कलावादी जिसे नूतन मूट्टि कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालो के निकट वास्तविक का विह्वल रूप मात्र है—देखा विह्वल रूप जो प्रायः कुञ्चन मात्र उपन करके रह जाता है। हृदय के ममस्थल का स्पश नहीं करता कोई सच्ची और गम्भीर अनुभूति नहीं जगाता।'^१

शुक्लजी कविता के माध्यम से समाज को स्वप्निल लोक दिखाना पसंद नहीं करने थे, वरन् वे तो साहित्य को जागरण के शब्दनाद का शाश्वत स्वरूप बनाना चाहते थे। यह सब उनका आदर्श था, अपनी मान्यता थी, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु अपने आदर्शों को इतनी लम्बी डोर दे देना उचित नहीं कहा जा सकता जो दूसरे दृष्टिकोणों को बाँधती चनी जाय, अन्य व्यक्तियों के विचारों को भंगी भाँति समझन में भी बाधक बन जाय। 'गुक्नजी की दृष्टि में " 'कना बना के लिए अथवा 'काव्य कल्पना का लोक है ये सब बेल बूटेवाली हठकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।^२ उन्होंने रसवाद के आग्रह के बशीभूत होकर बनावाद की उपेक्षा भी की है। 'शुक्लजी की समीक्षा में 'गुद्ध सौंदर्यवादी दृष्टिकोण कम पाया जाता है। इधर 'शिव को उनकी समीक्षा में इतना अधिक स्थान मिला है कि वह 'सुन्दर' की मीमांसा बन गया है। इसने फलस्वरूप साहित्य जगत् में इनके विरुद्ध एक जस-तोप जागरित हुआ जिसने शुक्लजी की मान्यताओं को पीछे ढकेल देने का साहस किया। 'गुक्नजी को 'बला शब्द से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि वे उसे साहित्य क्षेत्र से बाहर निकालने की बात कहने लगे "सारा उपद्रव काव्य को बलाआ के भीतर लेने से हुआ है इधर हमारी हिन्दी में काव्य समीक्षा के प्रसंग में 'कलावाद की बहुत उद्धरणी होने लगी। मेरे दखन में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र में जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसकी जड़ पकड़ना ठीक नहीं है।'^३ शुक्लजी को इतना सब कुछ कह देन पर चैन नहीं पडा, तभी तो वे बार-बार पुरजार्ग शब्दों में कहते हैं "मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इच्छित है, तो उसका 'पीड़ा इस बना' का गे अर्थात् तक हो शीघ्र छुड़ाया जाय।"^४

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७८

२ चिन्तामणि भाग २, पृ० ११९

३ वही, पृ० १८०

४ वही, पृ० २१८

धारा के प्रति इस प्रकार का विरोध समीक्षा की सहानुभूतिहीन दृष्टि का परिचायक है।

छायावाद एवं रहस्यवाद की आलोचना—‘मानस का अवगाहन करने वाले शुक्लजी शायद छायावाद एवं रहस्यवाद को भरी भाँति समझ नहीं पाय। छायावाद और रहस्यवाद को जो आशंसा शुक्लजी से अभिप्रेत थी वह इन्हें मिल नहीं सकी। छायावादी काव्य की समीक्षा करने हुए शुक्लजी ने खोजकर कहा है ‘हमारे नवीन हिंदी साहित्य क्षेत्र में गावम नया आया ऊँट हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हीमला हो गया है। जैसे भावा या तथ्या की व्यंजना के लिए श्रियुक्त रवींद्र, प्रकृति के प्रीटास्यल में लेकर नाना मूत स्वरूप खड़ा करते हैं, वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखने वाले बहुतेरे ऊटपटांग चित्र खड़ा करने और कुछ अमम्बद्ध प्रलाप करने को ही ‘छायावाद की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गयी है।’^१

छायावाद को ऊटपटांग और ‘असम्बद्ध प्रलाप बहना शुक्लजी की कठार एवं सखीण दृष्टि का परिचायक है। रहस्यवाद में जिस अज्ञान मत्ता में मिलने की आकुलता का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है शुक्लजी उस वकवास से अधिक नहीं समझते, तभी तो वे लिखते हैं ‘जब विचारने की वान है कि किसी अगाध और जनात के प्रेम में आसुआ की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसा का मिनार वजान, प्रियतम असीम के सग नग्न प्रलय सा ताण्डव करने या मुद नयन की फलको के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने का ही—भी तक तो कोई हज न था—कविता कहना, कहा तक ठीक है? चारा ओर से बेदखल होकर छोट छोट बनकौआ पर भला कविता कब तक टिक सकती है।’^२

शुक्लजी ने रहस्यवाद में केवल अप्रस्तुत आरोप और हृदय की लम्बी चौड़ी उछल बूद देखी है वे उसकी आत्मा को नहीं पहचान सके। उनकी दृष्टि ज्ञात अज्ञात को केवल एक ओट या वहाना मात्र समझ सकी। यदि शुक्लजी का नये प्रचलित वादों के प्रति इतना उपेक्षा का भाव नहीं होता, तो शायद वे ऐसा नहीं कहते बगभापा का काव्यक्षेत्र के तो एक कोने ही में इस रहस्यवाद—छायावाद की तन्त्री बजी, मराठी, गुजराती को हर एक विलासी ताल मुर पर नाचने की आदत नहीं, पर हिंदी में तो इसकी नकल का तूफान सा आ गया।^३

अपनी समीक्षा के बावजूद छायावाद रहस्यवाद ने हिंदी काव्य की श्रीवद्धि में जो योगदान किया है उस इस प्रकार नकार देना उचित नहीं कहा जा सकता।

१ भ्रमरगीतसार, पृ० २०

२ चिन्तामणि (भाग २) पृ० ५६

३ वही, पृ० १०८ १२२।

‘कलावाद’-सम्बन्धी दृष्टिकोण—छायावाद और रहस्यवाद के समान ही कला-वाद की भस्मना गुकनजी ने बड़ी निममता के साथ की है। ‘कला, कला के लिए’ के प्रवक्तव्य और ममयको पर उन्होंने बहुत ही तीखे व्यंग्य बाण छोड़े हैं। उन्होंने नूतन रूप-सज्जा विग्रह कलावादी पिढा को अस्वीकार करते हुए लिखा है “‘कलावादी’ जिसे नूतन सृष्टि करने हैं वह स्वयं और म्यत्र दृष्टिवादी के निवृत्त वास्तविक का विग्रह कर मान है—रेखा विग्रह का जो प्राय कुतूहल मात्र उपज करके रह जाता है। हृदय के ममम्यन का स्पष्ट नहीं करता, कोई सच्ची और गम्भीर अनुभूति नहीं जगाता।”^१

गुकनजी कविता के माध्यम से समाज को स्वप्नित लोक दिखाना पसंद नहीं करते थे, बरन् वे तो साहित्य को जागरण के शखनाद का शाश्वत स्वरूप बनाना चाहते थे। यह सब उनका आदर था, अपनी मायता थी, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु अपने आदर्शों को इतनी लम्बी डोर दे देना उचित नहीं कहा जा सकता जो दूसरे दृष्टिकोणों का बाँधती चली जाय, अथ व्यक्तियों के विचारों को भंगी-भाँति सम्भने में भी बाधा बन जाय। गुकनजी की दृष्टि में, “‘कला, कला के लिए’ अथवा ‘काव्य कल्पना का लोक है—ये सब बेल-बूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।”^२ उन्होंने रसवाद के आग्रह के बनीभूत होकर कलावाद की उपेक्षा भी की है। गुकनजी की समीक्षा में गुद्ध सौंदर्यवादी दृष्टिकोण कम पाया जाता है। इधर ‘सिव’ को उनकी समीक्षा में इतना अधिक स्थान मिला है कि वह ‘सुन्दर’ की सीमा बन गया है। इसके फलस्वरूप साहित्य जगत् में इनके विरुद्ध एक असंतोष जागरित हुआ जिसने गुकनजी की मायता का का पीछे ढाल देने का साहस किया। गुकनजी को ‘कला’ शब्द से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि वे उसे साहित्य क्षेत्र से बाहर निकालने की बात कहने लगे “सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है—इधर हमारी हिन्दी में काव्य समीक्षा के प्रसंग में ‘कला’ शब्द की बहुत उद्धरणों होने लगी। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र में जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसकी जड़ पकड़ना ठीक नहीं है।” गुकनजी को इतना सब कुछ कह देना पर चैन नहीं पड़ा, तभी तो वे बार-बार पुरजोर शब्दों में कहते हैं “मैं फिर भी जार के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इच्छा है, तो उमरा ‘वीर्या’ इस ‘कला’ शब्द से जहाँ तक हो, गीत छुड़ाया जाय।”^३

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७८

२ वितामणि भाग २, पृ० १९९

३ वही, पृ० १८०

अभिव्यजनावाद और गुणलजी --राजे का अभिव्यजनावाद भी गुणलजी के आदर्शों की तुला पर ठीक नहीं उतर सकता। इसलिए, उस भी बटु जालोचना का सामना करना पड़ा। वे उक्त वाद की गहराई तक नहीं पहुँच सके। अभिव्यजनावाद में शुक्लजी ने रचना प्रक्रिया और सौन्दर्य विधान के स्थान पर केवल वाग्वैचित्र्य और उक्ति वैविध्य ही देया। जमा कि उनसे इस कथन में स्पष्ट है 'अभिव्यजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है पर वाग्वैचित्र्य का हृदय से कौन सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यजनावाद के अनुसार ही यदि कविता बनने लग तो उसमें विलक्षण विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए न विचारधारा, न भावों की रमधारा।^१ उन्होंने त्रोटके के अभिव्यजनावाद को 'वितण्डावाद'^२ तक कह डाला।

गुणल समीक्षा का एक सीमा यह भी रही है कि वे प्रायः सब शक्य सम्बन्ध और कल्पना व्यापार का पाथक्य मानकर चले हैं जैसा कि वस्तुतः ये दोनों पक्ष एक दूसरे में अविच्छिन्न रूप में सम्बद्ध हैं। यदि कल्पना में समाहार शक्ति है, तो भाषा में समास शक्ति स्वतः आ जायगी। कल्पना के उद्बुद्ध होने पर भाषा में किस प्रकार जीवन संचार होने लगता है इसका उदाहरण स्वयं गुणलजी की उन पक्तियों में मिल सकता है जिसमें चिंतन कल्पना में ढल गया है। मूरदास की समीक्षा करने समय वे लिखत हैं जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जा काल की कठोरता में दब गई थी अवकाश पाते ही नौकभाषा की सरमता में परिणत होकर मिथिला की जमराइया में विद्यापति के कोकिल कण्ठ में प्रकट हुई और आगे चलकर करील कुजों के बीच फल मुरवाये मनो को मीचन लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाओं श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कात्तन करने उठी जिनमें सबसे ऊँची गुरीरी और मधुर चकार जगधे कवि मूरदास की वीणा की थी।^३

वे जब जब कल्पना अथवा भाषा सौन्दर्य की बात करत हैं, तब तब भाषा सौन्दर्य को अलग से व्यक्त करने का प्रयत्न में जुट जाते हैं। भाषा सौन्दर्य का व कल्पना सौन्दर्य के सम्मुख नीचे दर्जे का समझने हैं। बहुत सम्भव है उनके मन में भाषा चमत्कार की बात आते ही केशव का काव्य उनका कल्पना नया के समान आ जाता हो। जायसी की नागमती के बिरह घणत में भाषा सौन्दर्य की बात करने व 'सदेमश' गद में 'डा प्रत्यय के सुन्दर प्रयोग की बात करते हैं। अभिव्यजनावाद ने इसी कल्पना सौन्दर्य और अभिव्यजना सौन्दर्य को एक दूसरे से सम्बद्ध मानत हुए अपन सिद्धांत रखे हैं।

१ चिंतामणि, भाग २ पृ. ० ९७

२ वही पृ. १७९

३ धर्मरगीतसार, पृ. १

शुक्ल-समीक्षा की अगतिवृत्ता—शुक्लजी की समीक्षा पद्धति में परिस्थिति और युगानुरूप परिवर्तन और परिवर्द्धन नहीं दिखाई देता। उनके ममीमा सिद्धांत बढोर हैं जिनमें लक्ष्य की कोई गुंजाइश नहीं। भक्ति-कालीन साहित्य के लिए उन्होंने जिन मर्यादा, नैतिकता और लोकमगल को आलोचना मान के रूप में स्वीकार किया उन्ही मानों का प्रयोग उन्होंने रीतिकालीन और आधुनिक साहित्य की ममीमा के लिए किया, जिसमें फलस्वरूप वे रहस्यवाद और ध्यायावाद का समुचित मूल्यांकन नहीं कर सके। समीक्षा में ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि या तो वह युग का पथ प्रदर्शक बने अथवा युग का वास्तविक चित्र उपस्थित करे। पहले तो शुक्लजी ने युग का अपने पीछे पीछे चलाया, समीक्षा-जगत को नये नये आयाम और नय नय मोड़ दिए किन्तु बाद में वे स्वयं युग की दौड़ में पिछड़ गए। उनकी अपनी ही स्थापनाएँ उन पर इतनी हावी हो गईं कि वे उनमें हटकर देख ही नहीं सके। जहाँ समीक्षा में 'सौंदर्य तत्त्व' की अधिक धर्षा होने लगी तब शुक्लजी ने सौन्दर्य-तत्त्व को 'मगल तत्त्व' का ही पर्याय बताया। यह उनकी ममीमा की अगतिवृत्ता है। वे सौंदर्य तत्त्व को अलग में अस्तित्व देना नहीं चाहते। शुक्लजी लिखते हैं "बहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौंदर्य भी मगल का पर्याय है। जो लोग बेचल शांत और निष्क्रिय (स्टैटिक) सौंदर्य के अतीतिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं, वे कविता को जीवन क्षेत्र के बाहर खदेड़ना चाहते हैं।"^१

कविता को जीवनोपयोगी बनाना का आग्रह उन्होंने करते वक तक नहीं छोड़ा। एक सीमा तक वे स्वयं उपदेशक बन गये और उन्हें तुलसी की उपदेशात्मक बक्ति भी अच्छी लगती थी। 'मानस की उपदेशात्मक योग्यता को लेकर वे लिखते हैं "इसी प्रथम जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्वम की उत्तेजना, दुःख में धैर्य जान दोस्तव में उत्साह, कठिन परिस्थिति को पार करने का बन—सब कुछ प्राप्त होता है।"^२ किन्तु बदलते हुए युग को यह उपदेशात्मक बक्ति अवरतने लगी थी, शुक्लजी ने इसकी चिन्ता नहीं की।

एकपक्षीय दृष्टि—शुक्लजी की समीक्षाओं में बहुधा एकपक्षीय दृष्टिकोण देखने को मिलता है। वे जब जब भावपूर्ण का उदघाटन करने लगते हैं, लोकमगल का गुणगान करने बैठते हैं, तब तब वे भूल जाते हैं कि लोकजन भी साहित्य का विषय है और वह लोकमगल के समान ही जीवन में महत्वपूर्ण भी है। एकांगिता और एकपक्षीय दृष्टि को स्वयं शुक्लजी ने साहित्यिक बनकौशा उडाना कहा है किन्तु वे स्वयं इससे असम्पत्त नहीं रह सके हैं। इधर, शुक्लजी की समीक्षाओं का क्षेत्र अधिकतर काव्य जगत रहा है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' को छोड़कर गद्य साहित्य की तो प्रायः उपेक्षा भी की है। शुक्लजी जैसे सुधी और मृदु आलोचक ने यह उपेक्षा की जाती थी कि वे साहित्य

१ चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५७

२ गोरवाभी तुलसीदास, पृ० ८०

की विविध विधाओं पर भी प्रयोग करना। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पुस्तक में साहित्य की अन्य विधाओं पर भी थोड़ा बहुत गुंजनजी ने किया है, किंतु वहाँ अधिक विस्तार के लिए अवकाश नहीं था।

परम्परा और परिवर्तन की अंत प्रिया की उपक्षा—गुरुन ममी ता म युगीन परिस्थितियों को जिवन् स्थान मित्ता है, जबकि परम्परा की जोर कम ध्यान दिया गया है। उन्होंने अपन 'इतिहास' के गल विभाजन का कारण साहित्य-समीक्षा के पूर्व तदयुगीन परिस्थितियों के अध्ययन को माना। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि परिवर्तन एवं परिस्थिति के साथ साथ परम्परा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। गुरुनजी भक्तियुग के आतिर्भाव व सम्प्रदाय में लिखते हैं कि 'देव का वह नैराश्य-बान था जिसमें भगवान के सिवा जोर को नहीं महारा नहीं दिया देना था। भक्ति और प्रेम के रग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बदला।' गुंजनजी इसी स्थान पर चूक गये हैं। भक्ति साहित्य तो हम सम्प्रदाय साहित्य की धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ है। समय समय पर भक्ति साहित्य भारत में लिख गया है, इसलिए यह कहना कि नैराश्य-बान के कारण ही, भक्तिकाल का प्रादुर्भाव हुआ, गुरुनजी बान लगती है। साहित्य मजन तो परम्परा जोर परिवर्तन की अंत प्रिया व फलस्वरूप होता है। इन दोनों में किसी की भी उपेक्षा वाञ्छित नहीं। इन दोनों तथ्या पर समान दृष्टि में विचार करना अपेक्षित है। केवल पृष्ठभूमि निरूपण में स्थूल ऐतिहासिकता को महत्त्व देना ममीचीन नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः, गुंजनजी द्वारा स्थूल ऐतिहासिक परिस्थिति को अधिक महत्त्व दिया जान के परिणामस्वरूप ही ७० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने परम्परा जोर सत्कृति का महत्त्व उतारने हुए साहित्य के इतिहास का परम्परा विनाम के रूप में नवरूपावन किया है।

निष्कर्ष—गुरुन समीक्षा यद्यपि इतनी सीमाओं से घिरी है कि उमम स्वभावतः अपणता रह गई है, तथापि हिंदी-समीक्षा उनसे दाय के कभी उन्मुख नहीं हो सकती। जब हिंदी समीक्षा घुटनों के बल चलने में भी अपन जापको असमय पारही थी गुंजनजी ने उसे उँगनी पकड़कर चलाने का सफल प्रयास किया। उन्होंने हिंदी आलोचना को नये मान, नई दिशा जोर नया धरातल प्रदान किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा के पथ को आलोकित करते हुए उन्होंने उससे राजपथ का निर्माण किया। गुंजनजी सुगठना जोर युगस्रष्टा समानोचक थे। उन जैसा समालोचक किसी भी भाषा साहित्य के लिए दिव्य वरदान सिद्ध हो सकता है। उनकी स्थापनाओं की चट्टान जट्ट है। कोई भी साहित्यिक दिग्गज उम ढाहन में अपन आपको समय नहीं पाता। उनके पाण्डित्य और अध्ययन के सम्मुख सभी नतमस्तक हो जाते हैं। हिंदी समीक्षा में एक प्रकार से जोर आत्म का दादन के द्वारा अनायास हो गया है। वस्तुतः, गुंजनजी की सीमाएं उनकी समीक्षा विदीपताओं के सामने घूमिल पड़ जाती हैं, गीण हो जाती हैं।

